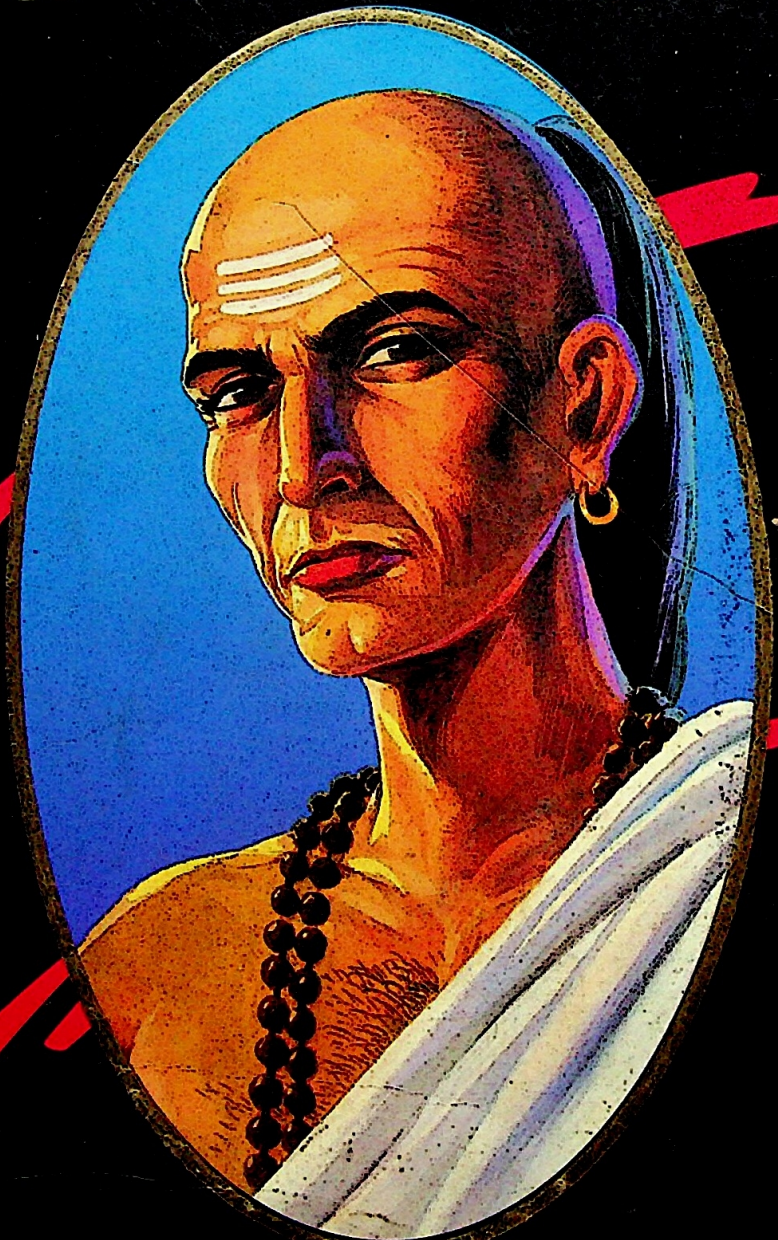
सम्पूर्ण चाणक्य नीति



सम्पूर्ण चाणक्य नीति

रूपान्तर
ओमप्रकाश शर्मा

मनोज पॉकेट बुक्स

© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन
लिखित अनुमति के बिना इस पुस्तक का कोई भी अंश न छापें तथा सामयिकों में भी प्रकाशित न करें।

चेतावनी सूचना

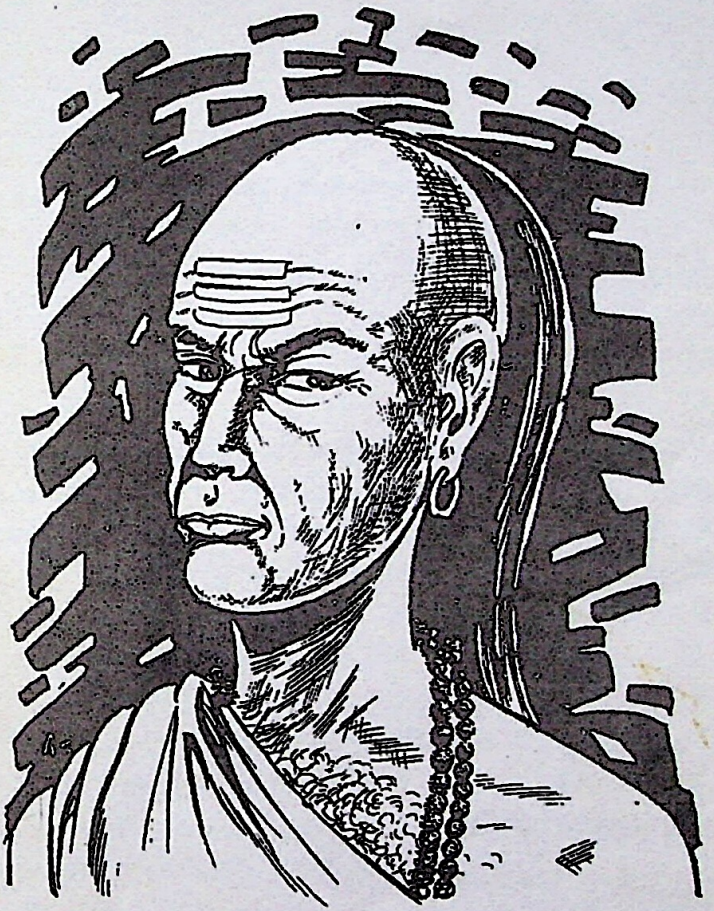
भारतीय कॉपीराइट एक्ट के अंतर्गत इस पुस्तक की सामग्री तथा रेखाचित्रों के अधिकार 'मनोज पॉकेट बुक्स, 761, मेन रोड, बुराड़ी, दिल्ली-110084' के पास सुरक्षित हैं। कोई भी व्यक्ति/संस्था/समूह आदि इस पुस्तक की आंशिक या पूरी सामग्री किसी भी रूप में मुद्रित/प्रकाशित करने का दुस्साहस न करें।
इस चेतावनी का उल्लंघन करनेवाले कानूनी तौर पर हर्जे-खर्चे व हानि के जिम्मेदार स्वयं होंगे। समस्त वाद-विवादों का न्याय-क्षेत्र केवल दिल्ली रहेगा।

प्रकाशक
मनोज पॉकेट बुक्स
761, मेन रोड, बुराड़ी,
दिल्ली-110084
✆ 27615430, 27619638, 27619639, 27616745 .
फैक्स: 27615430 मोबाइल: 9212036444, 9811328815
email: camford@sify.com web: www.manojpocketbooks.com

होल-सेल एवं रिटेल शोरूम
1673-74, नई सड़क, दिल्ली-110006
✆ 65755767, 9891174741

मुद्रक
जय माया ऑफसेट
झिलमिल इण्डस्ट्रियल एरिया, दिल्ली-110095

मूल्य
पेपर बैक संस्करण: 60/-



चाणक्य नीति एक अत्यन्त महत्वपूर्ण भारतीय ग्रन्थ है, जिसमें सिद्धान्त और व्यवहार तथा आदर्श और यथार्थ का बड़ा ही सुन्दर समन्वय देखने को मिलता है। इतना ही नहीं, इसमें रीति-नीति सम्बन्धी अनेक बातों का जैसा अद्‌भुत और व्यावहारिक चित्रण मिलता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इसलिए इस ग्रन्थ को पूरे विश्व में आदर प्राप्त है।

प्रथम अध्याय

प्रणम्य शिरसा विष्णुं त्रैलोक्याधिपतिं प्रभुम्।
नानाशास्त्रोद्धृतं वक्ष्ये राजनीतिसमुच्चयम्।।१।।

मैं तीनों लोकों (स्वर्ग, पृथ्वी और पाताल) के स्वामी भगवान् के चरणों में सिर झुकाकर नमस्कार करता हूँ। इसके बाद मैं राजनीति के उन सिद्धान्तों का जन-सामान्य के कल्याण के लिए वर्णन करता हूँ जो अनेक शास्त्रों से एकत्रित किए गए हैं।

राजनीति में कौटिल्य की महत्ता से कोई इन्कार नहीं कर सकता। अनेक स्थानों पर उन्हें विष्णु शर्मा अथवा चाणक्य के नाम से भी पुकारा गया है। चाणक्य को अर्थशास्त्र से सम्बन्धित होने के कारण कौटिल्य भी कहा गया है। कौटिल्य का अर्थ है जो कूटनीति में प्रवीण हो। चाणक्य की कूटनीति से राजा और प्रजा दोनों को ही लाभ होता है। चाणक्य के राजनीति-शास्त्र से सभी वर्गों ने अब तक लाभ उठाया है और प्राचीन काल से उठाते आ रहे हैं

चाणक्य ने विष्णुगुप्त नाम से पंचतन्त्र नामक एक और ग्रन्थ की भी रचना की है। वह पुस्तक भी राजनीति से सम्बन्धित है और उसको पढ़कर विद्यार्थियों को अनेक ऐसी बातों का ज्ञान होता है जिन्हें वह सामान्य ढंग से नहीं जान सकते । चाणक्य ने अनेक उदाहरण देकर गूढ़ विषयों को इतना स्पष्ट कर दिया है कि जो उसकी अपनी ही विशेषता है।

भारतीय ग्रन्थ-रचनाकार प्राचीन काल से अपने कार्य की निर्विघ्नतापूर्वक समाप्ति के लिए सदैव अपने इष्टदेव का ध्यान लगाकर उसकी स्तुति किया करते थे। प्रायः सभी प्राचीन ग्रन्थों में इस बात का उदाहरण स्पष्ट देखने को मिल जायेगा। चाणक्य ने भी यहां तीनों लोकों के स्वामी विष्णु का आह्वान किया है और उन्हें नम्रतापूर्वक प्रणाम करके ही अपने ग्रन्थ की रचना प्रारम्भ की है।

अधीत्येदं यथा शास्त्रं नरो जानाति सत्तमः।
धर्मोपदेशविख्यातं कार्याऽकार्यं शुभाशुभम्।।२।।

इस श्लोक का अर्थ यह है कि समझदार व्यक्ति इस नीतिशास्त्र को पढ़कर यह जान लेता है कि कौन-सा कार्य उसके योग्य है अथवा कौन-सा न करने योग्य। उसे कार्यों के अच्छे और बुरे परिणाम के सम्बन्ध में ज्ञान हो जाता है, इसलिए वह अपने व्यवहार में कुशल हो सकता है। इन करने योग्य अथवा न करने योग्य कार्यों को धर्मोपदेश भी माना जा सकता है।

यह समझने की बात है कि मनुष्य को यह ज्ञात होना चाहिए कि कार्य के सम्बन्ध में उसका धर्म क्या है अर्थात् उसके मन में यह बात स्पष्ट होनी चाहिए कि कौन-सा कार्य करने योग्य है अथवा कौन-सा कार्य धर्मविरुद्ध हो सकता है। धर्म का अर्थ मनुष्य अथवा किसी वस्तु के गुण और स्वभाव को माना जाता है। जिस प्रकार अग्नि का धर्म जलाना और पानी का धर्म शान्त करना है, उसी प्रकार हम यह कह सकते हैं कि राजनीति में कुछ बातें ऐसी भी होती हैं जिन्हें सामान्य रूप से देखने पर धर्मविरुद्ध कहा जा सकता है। परन्तु यहां राजनीति उस धर्म में सहायक होती है जिस कार्य को करने से किसी श्रेष्ठ ध्येय की पूर्ति होती है। इस प्रकार हम यह भी कह सकते हैं कि धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में एक प्रकार का सम्बन्ध है। उदाहरण के लिए घाव से पीड़ित एक बछड़े को गांधी जी ने गोली मार देने का आदेश दिया था। उनके इस कार्य को किसी ने अधर्म नहीं माना क्योंकि उस तड़पते हुए बछड़े को, जिसका कोई इलाज सम्भव न था, उस समय उसकी जीवन-लीला समाप्त कर देना ही धर्म था। इसी प्रकार महाभारत के युद्ध में 'अश्वत्थामा हतो नरो वा कुंजरो वा' महान् चीख-चिल्लाहट के बीच कहे गये ये शब्द द्रोणाचार्य द्वारा किए जा रहे संहार से बचने के लिए उपयुक्त थे। भगवान् श्रीकृष्ण जैसे योगिराज ने उन्हें उपयुक्त माना। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि चाणक्य का कथन सच है कि अर्थशास्त्र के ज्ञान से आदमी को शुभ अथवा अशुभ कर्म को करने का ज्ञान होने से उसका कल्याण होता है। उनका मत है कि यह ज्ञान धर्मसम्मत है।

तदहं संप्रवक्ष्यामि लोकानां हितकाम्यया।
येन विज्ञानमात्रेण सर्वज्ञत्वं प्रपद्यते।।३।।

इस श्लोक का अर्थ यह है कि मैं लोगों की भलाई की इच्छा से राजनीति के उन गूढ़ रहस्यों का वर्णन कर रहा हूं जिन्हें केवल जान लेने से ही व्यक्ति अपने-आपको सर्वज्ञ समझ सकता है। चाणक्य ने यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात कही है कि मनुष्य को यदि राजनीति के सूक्ष्म रहस्यों का ज्ञान हो जाए, तो केवल इतने ज्ञान से ही वह अपने सर्वज्ञ होनें का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। चाणक्य ने यहां उन राजनैतिक सिद्धान्तों को अपनाने का उल्लेख नहीं किया, जिन्हें अपनाने

या क्रियारूप में परीक्षण करने से मनुष्य कहां से कहां पहुंच सकता है।

संस्कृत में ही नहीं, अन्य अनेक भाषाओं में भी ऐसी उक्तियां प्रसिद्ध हैं कि कोई व्यक्ति सारी बातें नहीं जान सकता, अर्थात् उसे सभी बातों का ज्ञान नहीं होता। अनेक बातों के सम्बन्ध में अथवा अनेक विषयों की उसे ऊपरी जानकारी ही हो सकती है। परन्तु वह उसके कारण उन विषयों के सम्बन्ध में सूक्ष्म अथवा सर्वज्ञ होने का दावा नहीं कर सकता। चाणक्य ने यह स्पष्ट किया है कि जो उनके ग्रन्थ को अथवा राजनीति से सम्बद्ध उनकी बातों को जान लेगा, वह राजनीतिशास्त्र का पंडित हो जायेगा। इससे यह स्पष्ट है कि चाणक्य अपने विषय के महान् ज्ञाता और पूर्ण पारंगत पंडित थे। यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि जिस व्यक्ति को किसी विषय के मूल सिद्धान्तों का ज्ञान होता है वह उससे सम्बन्धित सभी विषयों को भली प्रकार जान सकता है। इससे स्पष्ट है कि जो भी व्यक्ति चाहे चाणक्य के इस ग्रन्थ को पढ़ कर अपने जीवन में सफलता प्राप्त करने के साथ-साथ आत्मगौरवपूर्वक सर्वज्ञ होने का दावा भी कर सकता है। अतः अपने कल्याण के लिए प्रत्येक व्यक्ति को इस ग्रन्थ का अध्ययन करना चाहिए।

मूर्खशिष्योपदेशेन दुष्टस्त्रीभरणेन च।
दुःखितैः सम्प्रयोगेण पण्डितोऽप्यवसीदति।।४।।

चाणक्य इस श्लोक में कहते हैं कि मूर्ख शिष्य को उपदेश देने, दुष्ट और कुलटा स्त्री के भरण-पोषण करने तथा दुःखी व्यक्तियों के संग में रहने से बुद्धिमान् व्यक्ति को भी कष्ट हो सकता है। यहां चाणक्य ने यह स्पष्ट किया है कि मूर्ख शिष्य को भली बात के लिए प्रेरित नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार दुष्ट आचरण वाली स्त्री का संग करना भी अनुचित है और दुःखी व्यक्तियों के पास बैठने-उठने और समागम से ज्ञानवान् पुरुषों को भी दुःख उठाना पड़ सकता है।

सम्भवतः देखने में ये बातें कुछ व्यक्तियों को साधारण प्रतीत होती हों, परन्तु यदि इन बातों पर थोड़ा गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि चाणक्य ने बड़ी गम्भीर बात कही है। वस्तुतः सीख, उपदेश अथवा परामर्श उसी व्यक्ति को देना चाहिए जो उसके योग्य हो अथवा सीख लेने की जिसकी इच्छा हो। बन्दर और बया के घोंसले की कथा बड़ी प्रसिद्ध है। वर्षा से भीगते हुए बन्दर को देखकर अपने घर में बैठी बया ने बन्दर को घर बना लेने की सीख दी, परन्तु बन्दर उस सीख के योग्य न था। इसलिए उसने सीख देने वाली बया को भी बेघर कर दिया। इसी प्रकार मूर्ख शिष्यों के अपने गुरु की सेवा से सम्बन्धित अनेक कहानियां भी ग्रन्थों में जहां-तहां बिखरी पड़ी हैं। संस्कृत में

प्रथम अध्याय

प्रणम्य शिरसा विष्णुं त्रैलोक्याधिपतिं प्रभुम्।
नानाशास्त्रोद्धृतं वक्ष्ये राजनीतिसमुच्चयम्।।१।।

मैं तीनों लोकों (स्वर्ग, पृथ्वी और पाताल) के स्वामी भगवान् के चरणों में सिर झुकाकर नमस्कार करता हूँ। इसके वाद मैं राजनीति के उन सिद्धान्तों का जन-सामान्य के कल्याण के लिए वर्णन करता हूँ जो अनेक शास्त्रों से एकत्रित किए गए हैं।

राजनीति में कौटिल्य की महत्ता से कोई इन्कार नहीं कर सकता। अनेक स्थानों पर उन्हें विष्णु शर्मा अथवा चाणक्य के नाम से भी पुकारा गया है। चाणक्य को अर्थशास्त्र से सम्बन्धित होने के कारण कौटिल्य भी कहा गया है। कौटिल्य का अर्थ है जो कूटनीति में प्रवीण हो। चाणक्य की कूटनीति से राजा और प्रजा दोनों को ही लाभ होता है। चाणक्य के राजनीति-शास्त्र से सभी वर्गों ने अब तक लाभ उठाया है और प्राचीन काल से उठाते आ रहे हैं

चाणक्य ने विष्णुगुप्त नाम से पंचतन्त्र नामक एक और ग्रन्थ की भी रचना की है। वह पुस्तक भी राजनीति से सम्बन्धित है और उसको पढ़कर विद्यार्थियों को अनेक ऐसी बातों का ज्ञान होता है जिन्हें वह सामान्य ढंग से नहीं जान सकते । चाणक्य ने अनेक उदाहरण देकर गूढ़ विषयों को इतना स्पष्ट कर दिया है कि जो उसकी अपनी ही विशेषता है।

भारतीय ग्रन्थ-रचनाकार प्राचीन काल से अपने कार्य की निर्विघ्नतापूर्वक समाप्ति के लिए सदैव अपने इष्टदेव का ध्यान लगाकर उसकी स्तुति किया करते थे। प्रायः सभी प्राचीन ग्रन्थों में इस बात का उदाहरण स्पष्ट देखने को मिल जायेगा। चाणक्य ने भी यहां तीनों लोकों के स्वामी विष्णु का आह्वान किया है और उन्हें नम्रतापूर्वक प्रणाम करके ही अपने ग्रन्थ की रचना प्रारम्भ की है।

अधीत्येदं यथा शास्त्रं नरो जानाति सत्तमः।
धर्मोपदेशविख्यातं कार्याऽकार्यं शुभाशुभम्।।२।।

इस श्लोक का अर्थ यह है कि समझदार व्यक्ति इस नीतिशास्त्र को पढ़कर यह जान लेता है कि कौन-सा कार्य उसके योग्य है अथवा कौन-सा न करने योग्य। उसे कार्यों के अच्छे और बुरे परिणाम के सम्बन्ध में ज्ञान हो जाता है, इसलिए वह अपने व्यवहार में कुशल हो सकता है। इन करने योग्य अथवा न करने योग्य कार्यों को धर्मोपदेश भी माना जा सकता है।

यह समझने की बात है कि मनुष्य को यह ज्ञात होना चाहिए कि कार्य के सम्बन्ध में उसका धर्म क्या है अर्थात् उसके मन में यह बात स्पष्ट होनी चाहिए कि कौन-सा कार्य करने योग्य है अथवा कौन-सा कार्य धर्मविरुद्ध हो सकता है। धर्म का अर्थ मनुष्य अथवा किसी वस्तु के गुण और स्वभाव को माना जाता है। जिस प्रकार अग्नि का धर्म जलाना और पानी का धर्म शान्त करना है, उसी प्रकार हम यह कह सकते हैं कि राजनीति में कुछ बातें ऐसी भी होती हैं जिन्हें सामान्य रूप से देखने पर धर्मविरुद्ध कहा जा सकता है। परन्तु यहां राजनीति उस धर्म में सहायक होती है जिस कार्य को करने से किसी श्रेष्ठ ध्येय की पूर्ति होती है। इस प्रकार हम यह भी कह सकते हैं कि धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में एक प्रकार का सम्बन्ध है। उदाहरण के लिए घाव से पीड़ित एक बछड़े को गांधी जी ने गोली मार देने का आदेश दिया था। उनके इस कार्य को किसी ने अधर्म नहीं माना क्योंकि उस तड़पते हुए बछड़े को, जिसका कोई इलाज सम्भव न था, उस समय उसकी जीवन-लीला समाप्त कर देना ही धर्म था। इसी प्रकार महाभारत के युद्ध में 'अश्वत्थामा हतो नरो वा कुंजरो वा' महान् चीख-चिल्लाहट के बीच कहे गये ये शब्द द्रोणाचार्य द्वारा किए जा रहे संहार से बचने के लिए उपयुक्त थे। भगवान् श्रीकृष्ण जैसे योगिराज ने उन्हें उपयुक्त माना। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि चाणक्य का कथन सच है कि अर्थशास्त्र के ज्ञान से आदमी को शुभ अथवा अशुभ कर्म को करने का ज्ञान होने से उसका कल्याण होता है। उनका मत है कि यह ज्ञान धर्मसम्मत है।

तदहं संप्रवक्ष्यामि लोकानां हितकाम्यया।
येन विज्ञानमात्रेण सर्वज्ञत्वं प्रपद्यते।।३।।

इस श्लोक का अर्थ यह है कि मैं लोगों की भलाई की इच्छा से राजनीति के उन गूढ़ रहस्यों का वर्णन कर रहा हूं जिन्हें केवल जान लेने से ही व्यक्ति अपने-आपको सर्वज्ञ समझ सकता है। चाणक्य ने यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात कही है कि मनुष्य को यदि राजनीति के सूक्ष्म रहस्यों का ज्ञान हो जाए, तो केवल इतने ज्ञान से ही वह अपने सर्वज्ञ होनें का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। चाणक्य ने यहां उन राजनैतिक सिद्धान्तों को अपनाने का उल्लेख नहीं किया, जिन्हें अपनाने

या क्रियारूप में परीक्षण करने से मनुष्य कहां से कहां पहुंच सकता है।

संस्कृत में ही नहीं, अन्य अनेक भाषाओं में भी ऐसी उक्तियां प्रसिद्ध हैं कि कोई व्यक्ति सारी बातें नहीं जान सकता, अर्थात् उसे सभी बातों का ज्ञान नहीं होता। अनेक बातों के सम्बन्ध में अथवा अनेक विषयों की उसे ऊपरी जानकारी ही हो सकती है। परन्तु वह उसके कारण उन विषयों के सम्बन्ध में सूक्ष्म अथवा सर्वज्ञ होने का दावा नहीं कर सकता। चाणक्य ने यह स्पष्ट किया है कि जो उनके ग्रन्थ को अथवा राजनीति से सम्बद्ध उनकी बातों को जान लेगा, वह राजनीतिशास्त्र का पंडित हो जायेगा। इससे यह स्पष्ट है कि चाणक्य अपने विषय के महान् ज्ञाता और पूर्ण पारंगत पंडित थे। यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि जिस व्यक्ति को किसी विषय के मूल सिद्धान्तों का ज्ञान होता है वह उससे सम्बन्धित सभी विषयों को भली प्रकार जान सकता है। इससे स्पष्ट है कि जो भी व्यक्ति चाहे चाणक्य के इस ग्रन्थ को पढ़ कर अपने जीवन में सफलता प्राप्त करने के साथ-साथ आत्मगौरवपूर्वक सर्वज्ञ होने का दावा भी कर सकता है। अतः अपने कल्याण के लिए प्रत्येक व्यक्ति को इस ग्रन्थ का अध्ययन करना चाहिए।

मूर्खशिष्योपदेशेन दुष्टस्त्रीभरणेन च।
दुःखितैः सम्प्रयोगेण पण्डितोऽप्यवसीदति।।४।।

चाणक्य इस श्लोक में कहते हैं कि मूर्ख शिष्य को उपदेश देने, दुष्ट और कुलटा स्त्री के भरण-पोषण करने तथा दुःखी व्यक्तियों के संग में रहने से बुद्धिमान् व्यक्ति को भी कष्ट हो सकता है। यहां चाणक्य ने यह स्पष्ट किया है कि मूर्ख शिष्य को भली बात के लिए प्रेरित नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार दुष्ट आचरण वाली स्त्री का संग करना भी अनुचित है और दुःखी व्यक्तियों के पास बैठने-उठने और समागम से ज्ञानवान् पुरुषों को भी दुःख उठाना पड़ सकता है।

सम्भवतः देखने में ये बातें कुछ व्यक्तियों को साधारण प्रतीत होती हों, परन्तु यदि इन बातों पर थोड़ा गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि चाणक्य ने बड़ी गम्भीर बात कही है। वस्तुतः सीख, उपदेश अथवा परामर्श उसी व्यक्ति को देना चाहिए जो उसके योग्य हो अथवा सीख लेने की जिसकी इच्छा हो। बन्दर और बया के घोंसले की कथा बड़ी प्रसिद्ध है। वर्षा से भीगते हुए बन्दर को देखकर अपने घर में बैठी बया ने बन्दर को घर बना लेने की सीख दी, परन्तु बन्दर उस सीख के योग्य न था। इसलिए उसने सीख देने वाली बया को भी बेघर कर दिया। इसी प्रकार मूर्ख शिष्यों के अपने गुरु की सेवा से सम्बन्धित अनेक कहानियां भी ग्रन्थों में जहां-तहां बिखरी पड़ी हैं। संस्कृत में

इस श्लोक का अर्थ यह है कि समझदार व्यक्ति इस नीतिशास्त्र को पढ़कर यह जान लेता है कि कौन-सा कार्य उसके योग्य है अथवा कौन-सा न करने योग्य। उसे कार्यों के अच्छे और बुरे परिणाम के सम्बन्ध में ज्ञान हो जाता है, इसलिए वह अपने व्यवहार में कुशल हो सकता है। इन करने योग्य अथवा न करने योग्य कार्यों को धर्मोपदेश भी माना जा सकता है।

यह समझने की बात है कि मनुष्य को यह ज्ञात होना चाहिए कि कार्य के सम्बन्ध में उसका धर्म क्या है अर्थात् उसके मन में यह बात स्पष्ट होनी चाहिए कि कौन-सा कार्य करने योग्य है अथवा कौन-सा कार्य धर्मविरुद्ध हो सकता है। धर्म का अर्थ मनुष्य अथवा किसी वस्तु के गुण और स्वभाव को माना जाता है। जिस प्रकार अग्नि का धर्म जलाना और पानी का धर्म शान्त करना है, उसी प्रकार हम यह कह सकते हैं कि राजनीति में कुछ बातें ऐसी भी होती हैं जिन्हें सामान्य रूप से देखने पर धर्मविरुद्ध कहा जा सकता है। परन्तु यहां राजनीति उस धर्म में सहायक होती है जिस कार्य को करने से किसी श्रेष्ठ ध्येय की पूर्ति होती है। इस प्रकार हम यह भी कह सकते हैं कि धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में एक प्रकार का सम्बन्ध है। उदाहरण के लिए घाव से पीड़ित एक बछड़े को गांधी जी ने गोली मार देने का आदेश दिया था। उनके इस कार्य को किसी ने अधर्म नहीं माना क्योंकि उस तड़पते हुए बछड़े को, जिसका कोई इलाज सम्भव न था, उस समय उसकी जीवन-लीला समाप्त कर देना ही धर्म था। इसी प्रकार महाभारत के युद्ध में 'अश्वत्थामा हतो नरो वा कुंजरो वा' महान् चीख-चिल्लाहट के बीच कहे गये ये शब्द द्रोणाचार्य द्वारा किए जा रहे संहार से बचने के लिए उपयुक्त थे। भगवान् श्रीकृष्ण जैसे योगिराज ने उन्हें उपयुक्त माना। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि चाणक्य का कथन सच है कि अर्थशास्त्र के ज्ञान से आदमी को शुभ अथवा अशुभ कर्म को करने का ज्ञान होने से उसका कल्याण होता है। उनका मत है कि यह ज्ञान धर्मसम्मत है।

तदहं संप्रवक्ष्यामि लोकानां हितकाम्यया।
येन विज्ञानमात्रेण सर्वज्ञत्वं प्रपद्यते।।३।।

इस श्लोक का अर्थ यह है कि मैं लोगों की भलाई की इच्छा से राजनीति के उन गूढ़ रहस्यों का वर्णन कर रहा हूं जिन्हें केवल जान लेने से ही व्यक्ति अपने-आपको सर्वज्ञ समझ सकता है। चाणक्य ने यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात कही है कि मनुष्य को यदि राजनीति के सूक्ष्म रहस्यों का ज्ञान हो जाए, तो केवल इतने ज्ञान से ही वह अपने सर्वज्ञ होनें का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। चाणक्य ने यहां उन राजनैतिक सिद्धान्तों को अपनाने का उल्लेख नहीं किया, जिन्हें अपनाने

या क्रियारूप में परीक्षण करने से मनुष्य कहां से कहां पहुंच सकता है।

संस्कृत में ही नहीं, अन्य अनेक भाषाओं में भी ऐसी उक्तियां प्रसिद्ध हैं कि कोई व्यक्ति सारी बातें नहीं जान सकता, अर्थात् उसे सभी बातों का ज्ञान नहीं होता। अनेक बातों के सम्बन्ध में अथवा अनेक विषयों की उसे ऊपरी जानकारी ही हो सकती है। परन्तु वह उसके कारण उन विषयों के सम्बन्ध में सूक्ष्म अथवा सर्वज्ञ होने का दावा नहीं कर सकता। चाणक्य ने यह स्पष्ट किया है कि जो उनके ग्रन्थ को अथवा राजनीति से सम्बद्ध उनकी बातों को जान लेगा, वह राजनीतिशास्त्र का पंडित हो जायेगा। इससे यह स्पष्ट है कि चाणक्य अपने विषय के महान् ज्ञाता और पूर्ण पारंगत पंडित थे। यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि जिस व्यक्ति को किसी विषय के मूल सिद्धान्तों का ज्ञान होता है वह उससे सम्बन्धित सभी विषयों को भली प्रकार जान सकता है। इससे स्पष्ट है कि जो भी व्यक्ति चाहे चाणक्य के इस ग्रन्थ को पढ़ कर अपने जीवन में सफलता प्राप्त करने के साथ-साथ आत्मगौरवपूर्वक सर्वज्ञ होने का दावा भी कर सकता है। अतः अपने कल्याण के लिए प्रत्येक व्यक्ति को इस ग्रन्थ का अध्ययन करना चाहिए।

मूर्खशिष्योपदेशेन दुष्टस्त्रीभरणेन च।
दुःखितैः सम्प्रयोगेण पण्डितोऽप्यवसीदति।।४।।

चाणक्य इस श्लोक में कहते हैं कि मूर्ख शिष्य को उपदेश देने, दुष्ट और कुलटा स्त्री के भरण-पोषण करने तथा दुःखी व्यक्तियों के संग में रहने से बुद्धिमान् व्यक्ति को भी कष्ट हो सकता है। यहां चाणक्य ने यह स्पष्ट किया है कि मूर्ख शिष्य को भली बात के लिए प्रेरित नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार दुष्ट आचरण वाली स्त्री का संग करना भी अनुचित है और दुःखी व्यक्तियों के पास बैठने-उठने और समागम से ज्ञानवान् पुरुषों को भी दुःख उठाना पड़ सकता है।

सम्भवतः देखने में ये बातें कुछ व्यक्तियों को साधारण प्रतीत होती हों, परन्तु यदि इन बातों पर थोड़ा गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि चाणक्य ने बड़ी गम्भीर बात कही है। वस्तुतः सीख, उपदेश अथवा परामर्श उसी व्यक्ति को देना चाहिए जो उसके योग्य हो अथवा सीख लेने की जिसकी इच्छा हो। बन्दर और बया के घोंसले की कथा बड़ी प्रसिद्ध है। वर्षा से भीगते हुए बन्दर को देखकर अपने घर में बैठी बया ने बन्दर को घर बना लेने की सीख दी, परन्तु बन्दर उस सीख के योग्य न था। इसलिए उसने सीख देने वाली बया को भी बेघर कर दिया। इसी प्रकार मूर्ख शिष्यों के अपने गुरु की सेवा से सम्बन्धित अनेक कहानियां भी ग्रन्थों में जहां-तहां बिखरी पड़ी हैं। संस्कृत में

एक श्लोक है—

अज्ञसुखमाराध्य सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः।
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि तं नरं न रंजयति।।

इसका अर्थ है कि जिस व्यक्ति को किसी भी बात का कोई ज्ञान नहीं है, उसे कोई बात आसानी से समझाई जा सकती है। और जो व्यक्ति सब कुछ जानता हो, चतुर हो उसे भी कोई भी बात बहुत ही सरलतापूर्वक समझाई जा सकती है, परन्तु जिस व्यक्ति को बहुत थोड़ा-सा ज्ञान होता है, उसे तो ब्रह्मा भी नहीं समझा सकता। क्योंकि यह बात बिल्कुल उसी तरह होती है जैसे एक कहावत के अनुसार चूहा हल्दी की एक गांठ लेकर पंसारी बन बैठा।

चाणक्य ने यह भी कहा है कि दुष्ट स्त्री का संग करना अथवा उसका पालन-पोषण करना भी दुःख का कारण बन सकता है। स्पष्ट है कि जो स्त्री अपने पति के प्रति ही सच्ची न हो, वह दूसरे प्रेमी का क्या भला करेगी! इसी प्रकार दुःखी व्यक्ति के साथ संग करने का परिणाम यही होगा कि उस व्यक्ति की निराशा, उस व्यक्ति के जीवन में व्याप्त तनाव और बुरी बातों का असर उसका संग करने वाले व्यक्ति पर भी अवश्य होगा। जो व्यक्ति इस प्रकार के दुःखों से घिरे होते हैं, उनका विवेक तो नष्ट हो ही जाता है। इसके साथ-साथ उनमें अन्य अनेक बुराइयां भी आ जाती हैं—वे लालची, कठोर, निर्दयी भी हो जाते हैं। इसलिए यह स्पष्ट है कि यदि कोई समझदार व्यक्ति भी ऐसे काम करेगा तो उसे निश्चय ही कष्ट उठाना पड़ेगा। यह बात बिल्कुल वैसी ही है जैसे जानबूझ कर सांप के बिल में हाथ देना अथवा आस्तीन में सांप पालना।

चाणक्य ने यहां समझदार लोगों को दुःखी व्यक्तियों से अलग रहने के लिए जो परामर्श दिया है, वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। चाणक्य के ही एक दूसरे ग्रन्थ में कहा गया है कि—

एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्य।
तावद्द्वितीयं समुपस्थते मे छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति।।

चाणक्य का यह कथन सर्वथा सत्य है कि दुःखी व्यक्ति का संसर्ग नहीं करना चाहिए क्योंकि दुःख कभी अकेला नहीं आता। जिस प्रकार कोई व्यक्ति यदि फटा हुआ कपड़ा ओढ़ कर सोता है तो पैर अथवा हाथ लगने से वह कपड़ा और भी फटता जाता है। इसी प्रकार दुःखों के सागर में फंसा व्यक्ति आसानी से उनसे पार नहीं निकलता। इसलिए चाणक्य का यह कथन सही है कि बुद्धिमान् व्यक्ति को इन तीनों के संसर्ग से बचना चाहिए।

दुष्टा भार्या शठं मित्रं भृत्यश्चोत्तरदायकः।
ससर्पे च गृहे वासो मृत्युरेव न संशयः।।५।।

जिस आदमी की स्त्री दुष्ट हो, जिसके मित्र नीच स्वभाव के हों और नौकर-चाकर जवाब देने वाले हों और जिस घर में सांप रहता हो, ऐसे घर में रहने वाला व्यक्ति निश्चय ही मृत्यु के निकट रहता है। अर्थात् ऐसे व्यक्ति की मृत्यु किसी भी समय हो सकती है।

किसी भी सद्गृहस्थ व्यक्ति के लिए उसकी पत्नी का दुष्ट होना उसके लिए मृत्यु के समान है। यदि पत्नी अपने पति के प्रति श्रद्धापूर्वक समर्पित भावना नहीं रखती तो ऐसा व्यक्ति तनाव की स्थिति में किसी भी समय आत्महत्या करने के लिए तैयार हो सकता है अथवा उसे अपना कोई वश चलता न देख एक मृतक व्यक्ति के समान जीवन बिताना पड़ता है। घर में रहने वाली दुष्टा स्त्री आदमी के लिए निरन्तर दुःख का कारण बनी रहती है। इसी प्रकार यदि किसी व्यक्ति का मित्र धूर्त और नीच स्वभाव का है तो उससे कभी भी भलाई की आशा नहीं की जा सकती, क्योंकि मित्र के रूप में वह आपके पास बैठकर किसी भी समय आपका अहित कर सकता है। शत्रु से तो आदमी सावधान रहता है। उसे इस बात का ज्ञान होता है कि अमुक व्यक्ति मेरा शत्रु है, उससे मुझे बचकर रहना चाहिए। परन्तु जिसको वह अपना मित्र समझता है और वही मित्र यदि मूर्ख है तो उसे हानि के अतिरिक्त और कुछ प्राप्त न होगा। यह एक कहावत भी है कि मूर्ख मित्र से बुद्धिमान् शत्रु अच्छा समझा जाता है। इसलिए व्यक्ति को ऐसे मित्र कहलाने वाले मूर्ख दोस्त के सम्पर्क में नहीं आना चाहिए। जिस प्रकार मूर्ख मित्र हानिकारक है, उसी प्रकार अपने स्वामी की आज्ञा का पालन न करने वाला सेवक भी स्वामी की मुसीबत का कारण होता है। प्रायः यह समझा जाता है कि मुंहलगा नौकर कोई भी काम स्वामी की इच्छा के अनुरूप नहीं कर सकता। वह हर बात में स्वामी की आज्ञा का पालन करने की बजाय इधर-उधर की बातें बना कर मालिक की आज्ञा के विपरीत कार्य करेगा, जिससे स्वामी का तनाव बढ़ने की सम्भावना बनी रहती है। सम्भव है कि इस प्रकार का सेवक घर के किसी गुप्त भेद को भी जानता हो। ऐसी स्थिति में तो वह और भी कष्टकर होगा। कोई भी व्यक्ति ऐसे घर में निश्चिन्त होकर नहीं रह सकता जब उसे यह पता लग जाये कि उसके घर में कोई सांप छिपा है। उसके लिए हर समय सावधानी बरतना और आत्मरक्षा के प्रयत्न में जुटा रहना कठिन है। इसलिए ऐसी स्थिति में जो व्यक्ति रहता है, उसकी मृत्यु में सन्देह नहीं। हो सकता है वह शारीरिक रूप से किसी भी क्षण लापरवाह हो जाए और काल के गाल में समा जाए।

इस श्लोक का भावार्थ यह है कि पत्नी का आज्ञाकारिणी और पतिव्रता होना आवश्यक है। यह भी आवश्यक है कि मित्र समझदार हो। नौकर आज्ञाकारी होना चाहिए, जिसे स्वामी के प्रति श्रद्धा के साथ-साथ उसका हित करने की इच्छा भी हो। यह भी आवश्यक है कि व्यक्ति को अपना घर सांप आदि दुष्ट व विषैले जीवों से मुक्त रखने का प्रयत्न करना चाहिए। तभी मनुष्य इस संसार में रहकर पूर्णतया जीवन का सुख भोग सकता है। यदि उसे दुष्ट स्त्री, नीच मित्र, सामने से बोलने वाले सेवक से वास्ता पड़ता है और उसे ऐसे घर में रहना पड़ता है जहां सांप आदि विषैले जीवों के रहने की सम्भावना हो, तो या तो वह किसी भी समय मौत का शिकार हो जाएगा अथवा यदि जीवित रहेगा तो उसे हर समय भयभीत ही रहना पड़ेगा।

आपदर्थे धनं रक्षेद् दारान् रक्षेद् धनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि।।६।।

मनुष्य को विपत्ति के समय के लिए धन बचाना और संचित करना चाहिए, परन्तु धन के बदले यदि औरतों की रक्षा करनी पड़े तो धन को खर्च कर देना जरूरी है। चाणक्य कहते हैं कि यदि व्यक्ति को अपनी रक्षा के लिए इन दोनों चीजों का भी बलिदान करना पड़े, तो इनका बलिदान करने से नहीं चूकना चाहिए।

किसी संकट की आशंका से अथवा इस आशंका से कि न जाने कब रुपये-पैसे की जरूरत पड़ जाये, मनुष्य का प्रयत्न रहता है कि जितना भी हो सके, धन का संचय करे, परन्तु चाणक्य का यह भी कहना है कि यदि अपने घर की औरतों पर, अपनी पत्नी पर किसी प्रकार का कोई संकट आ जाये तो उसे अपने संचित धन के प्रति मोह दिखाना ठीक नहीं। उस धन को खर्च करके स्त्रियों की रक्षा करनी चाहिए। परन्तु चाणक्य की नीति के अनुरूप यदि व्यक्ति पर स्वयं कोई संकट आता है तो उसका निवारण उसे हर हालत में करना चाहिए। प्रत्येक स्थिति में उसे चाहिए कि वह अपने-आपको संकट से बचाये, भले ही इस काम के लिए धन और घर की औरतों का भी बलिदान अथवा त्याग करना पड़े। इसका स्पष्ट भाव यही है कि यदि व्यक्ति अपने-आपको संकट से उबार लेता है तो वह अपने प्रयत्नों से धन का संचय तो फिर कर लेगा; परन्तु यदि वह अपनी रक्षा नहीं कर पाता तो स्त्रियों और धन के होने या न होने का कोई महत्त्व नहीं रह जाता, क्योंकि यदि व्यक्ति स्वयं ही जीवित नहीं रह पायेगा तो उन वस्तुओं का उपयोग दूसरे व्यक्ति ही करेंगे।

चाणक्य धन के महत्त्व को कम नहीं करते, क्योंकि उससे व्यक्ति अनेक

संकटों से छुटकारा पाता है, परन्तु उनका यह कहना है कि किसी भी परिवार की भली स्त्रियों का महत्त्व धन से भी कई गुना अधिक होता है। हर तरह से उनकी रक्षा के लिए प्रयत्न करना आवश्यक है। उनकी रक्षा के लिए किए गए धन का व्यय व्यर्थ नहीं जाता, क्योंकि उनकी मान-मर्यादा की रक्षा में व्यक्ति की मान-मर्यादा की रक्षा होती है। साथ ही चाणक्य का यह भी मानना है कि व्यक्ति का अपना महत्त्व सब चीजों से अधिक है अर्थात् उसे सब चीजों का त्याग करके भी अपनी रक्षा करनी चाहिए। यदि वह अपनी रक्षा नहीं कर पाता तो घर की स्त्रियां और धन उसके शत्रुओं के उपयोग के काम आएंगे। भारतीय इतिहास में हमें इस प्रकार के अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं, भले ही वहां उनका उपयोग दूसरे रूप में हुआ है। राजपूत स्त्रियों ने जब यह अनुभव किया कि राज्य और राजा की रक्षा करना तथा उसे बचा पाना असम्भव हो गया है तो उन्होंने अनेक बार जौहर-व्रत इसीलिए किए।

आपदर्थे धनं रक्षेच्छ्रीमतश्च किमापदः।
कदाचिच्चलिते लक्ष्मीः सञ्चितोऽपि विनश्यति।।७।।

व्यक्ति को किसी संकट से बचने के लिए धन की रक्षा करनी चाहिए। धन जमा करना चाहिए, क्योंकि धन अथवा लक्ष्मी को चंचल माना गया है। उसके सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि वह कब नष्ट हो जायेगी, परन्तु प्रारम्भ की बात पर यह प्रश्न उठता है कि यदि आदमी विपत्ति के लिए धन का संचय करता है, दुःख से बचने के लिए धन बचाता है तो उसे दुःख प्राप्त होने की सम्भावना ही कहां रह जाती है! ऐसे में चाणक्य स्वयं उत्तर देते हैं कि लक्ष्मी सदा अस्थिर रहती है। उसका स्वभाव चंचल है, इसलिए जमा किया हुआ धन भी किसी समय नष्ट हो सकता है।

इसका एक अभिप्राय यह भी निकलता है कि व्यक्ति को विपत्ति से बचने के लिए केवल धन-संचय पर ही भरोसा नहीं करना चाहिए। उसे अपनी शक्ति, बुद्धिमत्ता और उद्यम के साथ-साथ किसी ऐसी शक्ति पर भी भरोसा करना चाहिए जो सर्वशक्तिमान् हो सकती है। ऐसा केवल प्रभु के सम्बन्ध में ही कहा जा सकता है, क्योंकि उसी की कृपा से प्राप्त शक्ति के अनुसार मनुष्य धन का संचय कर पाता है और उस प्रभु की कृपा के कारण ही संचित धन को बचाया भी जा सकता है। उसकी कुपित दृष्टि से अथवा व्यक्ति के अपने अनुचित कार्यों के कारण अर्जित सम्पत्ति के नष्ट होने में देर नहीं लगती।

प्रायः अनेक परिवारों में यह देखा गया है कि परिवार के जिन मुखिया व्यक्तियों ने अपने परिश्रम, बुद्धिमत्ता और कार्यक्षमता से सम्पत्ति का निर्माण

किया, उनकी सन्तानों ने कुछ ही दिनों में देखते-देखते उस सम्पत्ति को नष्ट कर दिया। इससे प्रकट है कि लक्ष्मी चलायमान होती है और व्यक्ति के कार्यों के कारण ही स्थिर रहती है।

प्रकृति के अनेक प्राणी इस बात के उदाहरण हैं कि वे संकट की घड़ियां सुख से बिताने के लिए उपभोक्ता-सामग्री का संचय करते रहते हैं। यही उनकी सम्पत्ति होती है। चींटियां बरसात आने से पहले अपने बिलों में अन्न का भण्डार इकट्ठा कर लेती हैं ताकि बाहर जब जल-थल एक हो जाता है और बाहर निकलने में कठिनाई होती है, वे सुख से बैठ कर उसका उपभोग कर सकें। परन्तु वे नहीं जानतीं कि कब पानी की लहर उनके संचित भण्डार को नष्ट कर देगी। इस बात का यह अर्थ भी नहीं कि लक्ष्मी के चलायमान होने के कारण व्यक्ति उसका संचय ही न करे। व्यक्ति को ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि वह अपने कर्मों से लक्ष्मी को स्थिर रूप से अपने पास रखने में समर्थ हो सके।

यस्मिन्देशे न सम्मानो न वृत्तिर्न च बान्धवाः।
न च विद्याऽगमः कश्चित् वासं तत्र न कारयेत्।।८।।

इस श्लोक का यह अर्थ है कि जिस देश में व्यक्ति को सम्मान नहीं मिलता और आजीविका के साधन भी सुलभ न हों, जहां उसके परिवार के लोग और मित्र आदि भी न हों, उस देश में रहना उचित नहीं। इसके साथ ही चाणक्य ने यह महत्त्वपूर्ण बात भी कही है कि यदि ऐसे देश में विद्या-प्राप्ति के साधन भी न हों तो उस देश में मनुष्य को कभी नहीं रहना चाहिए। वहां कभी वास नहीं करना चाहिए।

यह तो बहुत ही सामान्य समझ की बात है कि प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि मानव के रूप में उसे सम्मान प्राप्त हो। और नहीं तो वह जो कुछ भी कामकाज करता है, उसे दृष्टि में रखते हुए उसके अनुरूप उसका आदर किया जाए। यह एक बहुत सामान्य इच्छा है। प्रत्येक व्यक्ति के मन में ऐसी इच्छा समय-समय पर बलवती भी हो उठती है। यदि उसका किसी देश अथवा स्थान पर सम्मान न होगा तो वह वहां रहना उचित नहीं समझेगा।

मनुष्य के लिए किसी न किसी प्रकार की आजीविका का होना बहुत आवश्यक है। मनुष्य अपनी आजीविका की खोज में सुदूर देशों की यात्रा करता है, परन्तु यदि उसे वहां कोई काम-धन्धा नहीं मिलता अथवा उसकी रोजी-रोटी का प्रबन्ध नहीं होता तो वह वहां क्यों रहेगा? यह भी सब जानते हैं कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में रहना, बैठना, उठना और उससे सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। वह कभी अकेला नहीं रहता। यह कहा जाता है कि

योगी और साधु लोग भी झुण्डों में निवास करते हैं, तो एक सामान्य-सा सांसारिक प्राणी ऐसे स्थान पर कैसे रह सकता है जहां न उसका कोई मित्र हो और न कोई भाई-बन्धु? मनुष्य केवल रोटी के लिए ही नहीं जीता। मनुष्य और पशु में एक अन्तर यह भी है कि वह सोचता है, उसमें विचार करने की शक्ति है, वह वस्तुओं के भले-बुरे गुणों की परख में लगा रहता है। इसके लिए उसका विद्वान् होना अथवा ज्ञान-प्राप्ति के लिए संलग्न रहना आवश्यक है। जिस देश में इनमें से कोई भी बात प्राप्त न हो, कोई भी सुविधा न हो तो भला मनुष्य ऐसे स्थान पर क्यों रहेगा? यदि इस बात को अत्यन्त साधारण परिप्रेक्ष्य में रखकर देखा जाए तो कोई पशु भी ऐसे स्थान पर नहीं रहेगा जहां उसे न कुछ खाने को मिले, न उसके साथ कोई प्यार-दुलार करने वाला हो। आदमी के समान पशुओं में भी इकट्ठे मिलकर रहने की प्रवृत्ति होती है। यदि वहां उसकी जाति अथवा नस्ल के प्राणी नहीं मिलेंगे तो वह भी एक दिन अपने-आप विनाश को प्राप्त हो जाएगा। इसलिए मानव के संदर्भ में चाणक्य ने जो बातें कही हैं, उनके अनुरूप बुद्धिमान् व्यक्ति को ऐसे देश में कभी निवास नहीं करना चाहिए जहां उसे न सम्मान प्राप्त हो, न आजीविका का साधन हो और न बन्धु-बान्धव हों और न ही विद्या-प्राप्ति का ही कोई प्रबन्ध हो। ऐसे देश में रहने से क्या लाभ?

धनिकः श्रोत्रियो राजा नदी वैद्यस्तु पञ्चमः।
पञ्च यत्र न विद्यन्ते न तत्र दिवसं वसेत्।।९।।

श्लोक का भावार्थ यह है कि जिस देश में धनी-मानी व्यापारी, कर्मकाण्ड को मानने वाले पुरोहित ब्राह्मण, शासन-व्यवस्था में निपुण राजा, सिंचाई अथवा जल की आपूर्ति के लिए नदियां और रोगों से रक्षा के लिए वैद्य आदि चिकित्सक न हों अर्थात् जहां पर ये पांचों सुविधाएं प्राप्त न हों वहां व्यक्ति को एक दिन के लिए भी रहना उचित नहीं।

यह एक सामान्य-सी बात है कि व्यक्ति को धन की आवश्यकता होती है। इस धन की प्राप्ति व्यापारी, धनी आदि व्यक्तियों से ही होती है। व्यक्ति अपने जीवन में सामान्य कर्मकाण्ड किए बिना नहीं रह सकता। इसके लिए कर्मकाण्ड में पारंगत विद्वान् पुरोहितों की आवश्यकता होती है। कर्मकाण्ड में मनुष्य के जीवन के प्रारम्भ से लेकर जीवन के अन्त तक ऐसी अनेक क्रियाएं हैं जिनमें से उसे गुजरना पड़ता है। कर्मकाण्ड-सम्बन्धी बातों की पूर्ति के लिए विद्वान् पुरोहित की आवश्यकता होती है। राज्य की शासन-व्यवस्था के लिए राजा अथवा किसी मुखिया की आवश्यकता होती है। प्रत्येक स्थान पर जल की आपूर्ति के लिए जल के प्राकृतिक साधन जैसे नदियों की आवश्यकता अनुभव की

जाती है। मनुष्य जहां रहता है, काम करता है, खाता-पीता है, वहां उसे अनेक प्रकार के रोग भी आ घेरते हैं, ऐसी स्थिति में लोगों को चिकित्सा उपलब्ध न हो तो मनुष्य अकाल ही काल का ग्रास बन जाता है। इसलिए चाणक्य का यह कहना सर्वथा उचित है कि जहां ये पांचों सुविधाएं न हों, वहां मनुष्य को एक दिन भी नहीं रहना चाहिए।

यदि हम क्रम से इन पांचों बातों पर विचार करें तो हम समझते हैं कि धनी, महाजन आदि केवल धन के आदान-प्रदान के ही काम नहीं आते बल्कि वे उस नगर, राज्य अथवा देश की श्रीवृद्धि में भी योगदान देते हैं, जहां उनका निवास होता है। इसी प्रकार हमारे प्रतिदिन के जीवन में हमें अनेक ऐसे कार्यों का सामना करना पड़ता है जहां हमें कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का बोध नहीं होता। श्रोत्रिय अथवा विद्वान् लोग व्यक्तियों के लिए मार्गदर्शन का काम करते हैं। राजा कानून और व्यवस्था के साथ-साथ प्रजा की रक्षा भी करता है। राजा ही विदेशों से सम्बन्ध का माध्यम होता है। नदियां जहां मानव के लिए जल की आपूर्ति करती हैं, वहां वे किसी ग्राम, नगर अथवा देश की धन-सम्पदा को बढ़ाने में भी योगदान देती हैं। यदि देश में उत्तम सिंचाई के साधन न हों तो लोगों को भरपेट खाना भी मुहैया नहीं किया जा सकता। मानव देहधारियों के लिए रोगों से ग्रस्त होना भी आवश्यक ही है। भले ही प्रकृति ने मनुष्य को स्वस्थ रहने की प्रेरणा दी है, परन्तु वह अपने अज्ञान और अथवा प्रकृति के सुचारु रूप में उपयोग न करने और उसकी आज्ञा न मानने के कारण प्रायः रोगी हो जाता है। रोग से बचाने के लिए ही नहीं, वरन् स्वस्थ रहने के नियमों की जानकारी के लिए भी स्वास्थ्य-विज्ञान में प्रवीण व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। आचार्य चाणक्य का यह कहना बिल्कुल सही है कि जहां पर ये पांचों चीजें उपलब्ध न हों वहां मनुष्य को एक दिन भी नहीं रहना चाहिए। हो सकता है कि उसे असमय ही मृत्यु का वरण करना पड़े।

लोकयात्रा भय लज्जा दाक्षिण्यं त्यागशीलता।
पञ्च यत्र न विद्यन्ते न कुर्यात्तत्र संस्थितिम्।।१०।।

चाणक्य ने उक्त श्लोक में बताई गई बातों के अतिरिक्त कुछ अन्य ऐसी बातों का भी वर्णन किया है कि यदि वे किसी स्थान पर प्राप्त न हों तो मनुष्य को वह स्थान भी अपने निवास के लिए नहीं चुनना चाहिए। मनुष्य को ऐसे स्थान पर नहीं रहना चाहिए जहां लोगों का लोक और परलोक के प्रति अथवा ईश्वर की विद्यमानता में कोई भरोसा न हो। उन्हें किसी प्रकार के कर्म में लज्जा अथवा भय न हो। जहां के लोग चतुर न हों, उनमें त्याग करने की भावना न हो,

चाणक्य का कहना है कि जहां ये पांचों बातें न हों वहां आदमी को रहने के लिए नहीं सोचना चाहिए।

इसका भावार्थ यही है कि मनुष्य को उसी स्थान पर रहना चाहिए या उसी स्थान पर रहने की योजना बनानी चाहिए जहां लोगों में ईश्वर, लोक और परलोक में आस्था हो। जहां सामाजिक आदर की भावना न हो, जिन्हें किसी भी प्रकार के काम करने में संकोच और लज्जा न हो, वहां भी बुद्धिमान् व्यक्ति को नहीं रहना चाहिए। चाणक्य ने इन बातों के साथ-साथ इस बात पर भी जोर दिया है कि वहां रहने वाले लोग निरे मूर्ख न हों। उनमें चातुर्य-बुद्धि हो, एक-दूसरे के लिए त्याग की भावना हो, नम्रता के गुण हों, उसी स्थान पर रहना चाहिए और जहां ये बातें न हों, उस स्थान पर रहने की सोचना मूर्खता है। यदि किसी देश अथवा स्थान के लोग कानून को तोड़ने में भय अथवा लज्जा का अनुभव नहीं करते, जिन्हें अपने सामाजिक दायित्वों के प्रति कोई आस्था न हो, जहां निरे फूहड़ और निरक्षर हों, जिनमें त्याग की किसी प्रकार की भावना नहीं, ऐसे स्थान पर रहना मनुष्य के लिए उचित नहीं, क्योंकि मनुष्य एक-दूसरे के प्रति त्याग के बिना इस संसार में सुखी नहीं रह सकता। उसे किसी-न-किसी प्रकार अन्य व्यक्तियों के लिए त्याग करना ही पड़ता है, परन्तु व्यक्ति के लिए यह भी आवश्यक है कि वह जो भी कार्य करे उसमें उसे निपुण होना चाहिए। सभी अकुशल व्यक्ति किसी नाव को खेने में असमर्थ होते हैं। उनकी जीवन की नाव या तो कष्टों के झंझावात में पड़कर नष्ट हो जाती है अथवा समुद्र की लहरें उसे निगल जाती हैं।

जानीयात् प्रेषणे भृत्यान् बान्धवान् व्यसनाऽऽगमे।
मित्रं चाऽऽपत्तिकालेषु भार्यां च विभवक्षये।।११।।

चाणक्य ने यहां बताया है कि समय आने पर सम्बन्धित व्यक्तियों का किस प्रकार परीक्षण हो सकता है। समय पड़ने पर कौन आपका किस प्रकार साथ देता है और सौंपे गए काम को किस प्रकार पूर्ण करता है, इसकी जांच उसके कार्यों से होती है। जिस समय आप अपने सेवक को कोई कार्य पूरा करने का उत्तरदायित्व देते हैं, तो वह किस प्रकार उस कार्य की पूर्ति करता है अथवा अपने उत्तरदायित्व में कोताही नहीं करता तो इससे उस सेवक की योग्यता का पता लगने के साथ-साथ इस बात का आभास भी होता है कि उसका आपके प्रति कितना दायित्व है। इसी प्रकार सम्बन्धियों के स्वभाव की जांच उस समय होती है जब वे किसी बुरी लत में पड़ जाते हैं। बुरे व्यसनों में शराब, जुआ आदि अनेक कर्म हैं, उनसे व्यक्ति की स्वाभाविक वृत्तियां मुखर होकर प्रकट होने लगती हैं। इसी

प्रकार इस बात का भी पता चल जाता है कि उस बुरी आदत से छुटकारा दिलाने में कौन-सा परिजन व मित्र सहायक होता है अथवा उसके दूर करने के लिए चेष्टा करता है। कुछ ऐसे मित्र भी होते हैं जो उन बुरी प्रवृत्तियों को अपने समर्थन द्वारा किसी व्यक्ति के नाश का कारण भी बन सकते हैं। इसी प्रकार मित्र की पहचान उस समय हो सकती है जब किसी व्यक्ति पर कोई संकट अथवा आपत्ति आती है। अनेक भाषाओं में इस सम्बन्ध में कुछ कहावतें भी प्रसिद्ध हैं जिनका अर्थ यही है कि वास्तव में मित्र वही है जो किसी के संकटकाल में काम आता है, अथवा उसके साथ मिलकर संकट को बांटने का प्रयत्न करता है। इसी प्रकार चाणक्य ने पत्नी के सम्बन्ध में भी कहा है कि संकट की घड़ियों में अपने पति का साथ देकर ही वह पतिव्रता कहला सकती है। यदि स्त्री किसी के धनवान् होने तक ही उसके सुख में सम्मिलित रहती है और उस पर दुःखों के पहाड़ टूटने पर उससे मुख मोड़ लेती है तो उसे पतिव्रता नहीं कहा जा सकता। पति-पत्नी एक-दूसरे के प्रति आदर-सम्मान की वास्तविक भावना उसी समय तक प्रकट कर सकते हैं जब वे सुख के दिनों के समय के समान ही दुःख में भी एक-दूसरे का साथ दें।

मनुष्य इस संसार में कोई भी कार्य अकेला रहकर नहीं कर सकता, क्योंकि वह सामाजिक प्राणी है। उसे सहायकों, सेवकों, बन्धु-बान्धवों, परिजनों, मित्रों की आवश्यकता पड़ती है। वह इस संसार में जीवनरूपी नैया को सुखपूर्वक खेने के लिए पत्नी तथा मित्रों का साथ जुटाता है, परन्तु यदि उसके ये सहायक जीवन-यात्रा में खरे नहीं उतरते तो उस व्यक्ति का जीवन निष्फल है। यदि सेवक को दिया हुआ कार्य ठीक तरह से न हो, अथवा वह उसे अपनी शक्ति के अनुरूप पूर्ण करने का प्रयत्न न करे तो ऐसे सेवक को रखने का कोई लाभ नहीं। इसी प्रकार जब व्यक्ति किसी दुर्व्यसन में पड़ जाता है, उसे कोई बुरी लत लग जाती है तो बन्धु-बान्धवों का यह कर्त्तव्य होता है कि वे उसे किसी प्रकार उससे छुटकारा दिलवाने में सहायक हों अथवा उसको ऐसा परामर्श दें कि वह स्वयं उस व्यसन को त्याग दे, परन्तु परिवार में कुछ व्यक्ति ऐसे भी हो सकते हैं जो उस व्यसन का समर्थन करते हैं अथवा स्वयं उसमें भागीदार बनते हैं। इससे उस व्यसन में पड़े हुए व्यक्ति का सर्वनाश तो होता ही है, उन व्यक्तियों का भी कल्याण नहीं होता जो दूसरे की इस तरह की कमजोरी से, दुर्बलता से लाभ उठाने का प्रयत्न करते हैं।

मित्र के सम्बन्ध में अनेक शास्त्रकारों का विश्वास है कि इस संसार में मित्र से बढ़कर दूसरा सहायक और समर्थक व्यक्ति नहीं होता, परन्तु मित्र की परीक्षा उसी समय होती है जब किसी पर कोई संकट आ पड़ता है। यदि संकट के समय

मित्र आपका सहायक न हो तो आपका उसे मित्र कहना व्यर्थ है। इसी प्रकार स्त्री अथवा पत्नी के वास्तविक स्वरूप का पता तभी चलता है जब मनुष्य के पास धन के कोई साधन नहीं रहते अथवा वह धनहीन हो जाता है। अनेक शास्त्रकारों ने कहा है कि मनुष्य की वास्तविक परीक्षा संकट के समय ही होती है।

आतुरे व्यसने प्राप्ते दुर्भिक्षे शत्रुसंकटे।
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः।।१२।।

यहां चाणक्य बन्धु-बान्धवों, मित्रों और परिजनों की पहचान बताते हुए कहते हैं कि जब व्यक्ति को कोई असाध्य रोग घेर लेता है, जब वह किसी बुरी लत में पड़ जाता है अथवा उसे खाने-पीने की चीजों का अभाव हो जाता है, वह अकाल का ग्रास बन जाता है, उस पर किसी प्रकार का शत्रु आक्रमण करता है, राजा अथवा सरकार की ओर से उस पर कोई मुकद्दमा अथवा अभियोग लगाया जाता है और जब वह अपने किसी प्रियजन को उसकी मृत्यु पर श्मशान-भूमि ले जाता है, ऐसे समय में जो लोग उसका साथ देते हैं, वही वास्तव में उसके बन्धु-बान्धव होते हैं।

मनुष्य पर विपत्तियां आती ही रहती हैं। हमारे शरीर में अनेक बार असाध्य रोग उत्पन्न हो जाते हैं। मनुष्य अनेक कारणों से किसी बुरी लत का शिकार भी हो जाता है। प्राकृतिक विपदाओं के कारण अकाल आदि भी पड़ते रहते हैं। शत्रुओं से भी भय बना रहता है और यह भी सम्भव है कि मनुष्य पर कोई सरकारी अभियोग आदि लगा दिया जाये और कोई मुकद्दमा खड़ा हो जाये। इन सब बातों के साथ-साथ मनुष्य के साथ जीवन-मरण भी लगा हुआ है। मनुष्य जाता तो अकेला है, परन्तु उसकी अन्तिम यात्रा में कुछ व्यक्ति अवश्य होते हैं। चाणक्य का मत है कि जो व्यक्ति उक्त बताई गई बातों के समय आपका साथ देते हैं, वही वास्तव में आपके बन्धु-बान्धव कहलाने के अधिकारी हैं।

अनेक बार ऐसा देखने में आया है कि बड़े-बड़े व्यक्तियों को जब कोई रोग आ घेरता है अथवा वे दुर्भिक्ष या शत्रु से भयभीत होते हैं तो बहुत कम व्यक्ति उनका साथ देने के लिए तैयार होते हैं। अनेक बार ऐसा भी देखा गया है कि राज्य की ओर से अभियोग लगाये जाने पर तो अधिकांश परिजन साथ देने के लिए तैयार ही नहीं होते। उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि यदि हमने इस व्यक्ति का साथ दिया तो सम्भवतः सरकार की ओर से हमें भी सताया जाना आरम्भ कर दिया जाएगा।

वस्तुतः किसी ऐसे अवसर के न आने तक आदमी की परख करना कठिन ही होता है। चाणक्य ने बहुत स्पष्ट शब्दों में इस बात का संकेत दिया है कि

बन्धु-बान्धव यदि संकट की घड़ियों में साथ नहीं देते तो उन्हें बन्धु अथवा परिजन कहना व्यर्थ है। चाणक्य की ये बातें देखने और सुनने में बहुत सामान्य लगती हैं, परन्तु यदि कोई व्यक्ति अपने आचरण में इन बातों को देखकर भी समझ नहीं पाता तो उससे बढ़कर मूर्ख दूसरा नहीं। सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने बन्धु-बान्धवों की ही नहीं, जहां तक हो सके जन-सामान्य की भी सेवा में हाथ बढ़ाये।

यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवं परिषेवते।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव च।।१३।।

अनेक व्यक्ति ऐसे होते हैं जिन्हें निश्चय होता है कि वे अमुक कार्य कर सकते हैं अथवा उनके द्वारा किसी कार्य का होना सम्भव है, परन्तु वे ऐसे कार्य के पीछे भागते हैं जिसके सम्बन्ध में उन्हें किसी प्रकार का निश्चय नहीं होता, अर्थात् उन्हें सन्देह होता है कि सम्भवतः जो कार्य हम करना चाहते हैं वह पूर्ण न हो। ऐसी स्थिति में ऐसे व्यक्ति उस कार्य से वंचित रह जाते हैं। और जिसके सम्बन्ध में उन्हें पूर्ण होने की आशा रहती है, उस कार्य के सिद्ध होने में भी विघ्न पड़ सकते हैं।

जो व्यक्ति अनिश्चित पदार्थों की कामना करके उनके पीछे भागता है, उसका फल यही होता है कि अनिश्चित वस्तु का तो मिलना असम्भव होता ही है, परन्तु निश्चित वस्तु के लिए प्रयत्न न करने के कारण वह भी हाथ से निकल जाती है। ऐसे व्यक्तियों को सामान्य भाषा में "शेखचिल्ली" कहा जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति मजदूरी करके अपना पेट पालता है और दस-बीस पैसे की मदद भी करता है तो उसे अपना भावी कार्यक्रम ऐसा बनाना चाहिए जो उसके साधनों के अनुरूप हो। यदि वह शेखचिल्ली की तरह से यह सोचने लगे कि चार पैसे जमा करके एक मुर्गी खरीदूंगा और उसके दिये गए अण्डों से जो आमदनी होगी उससे मकान बनाऊंगा, और मकान बनाने पर मैं विवाह करूंगा और विवाह होने पर बच्चा पैदा होगा। उस समय यदि पत्नी मेरी अवहेलना करेगी तो मैं उसे दुतकार दूंगा अथवा लातों से पीट कर उसे घर से बाहर कर दूंगा। इसी प्रकार के एक किस्से में शेखचिल्ली ने कई दिन की कमाई से जो थोड़ा-सा आटा इकट्ठा किया था और जिसे एक हंडिया में डालकर अपनी चारपाई के ऊपर लटका रखा था, लात मारते ही वह आटे की हंडिया नष्ट हो गई और शेखचिल्ली का सपना तो भंग हुआ ही, इसके साथ ही जो एक-दो समय के भोजन के लिए घर में आटा रखा था, वह भी हंडिया फूट जाने से समाप्त हो गया।

शिकारी प्रायः ऐसा सोचता है कि एक-आध चिड़िया पकड़ने से मेरा काम

नहीं चलेगा तो वह जाल में फंसी हुई चिड़िया की बजाय दूसरी चिड़ियों की तरफ भागता है। इतनी देर में हाथ में आयी हुई चिड़िया भी उड़ जाती है।

ऐसी कहानी है कि एक व्याध ने पक्षियों को पकड़ने के लिए एक पेड़ पर जाल फैलाया। बहुत-से छोटे-छोटे पक्षी फलों के लालच में उस वृक्ष तक पहुंचे और जाल में फंसते गए, परन्तु जब बहेलिया उस जाल को समेटने के लिए आया तो सब पक्षियों ने मिलकर यह निर्णय लिया कि क्यों न हम इस जाल को ही ले उड़ें। इस प्रकार उस बहेलिये के हाथ से वे चिड़ियां भी निकल गईं जो उसके पास दो-चार दिन पहले से कैद थीं। वह अपने जाल से भी हाथ धो बैठा।

भावार्थ यही है कि व्यक्ति को वही कार्य करना चाहिए जिसे वह पूरा कर सके। ऐसे कार्य में हाथ नहीं डालना चाहिए, जिसमें असफल होने की सम्भावना हो।

वरयेत् कुलजां प्राज्ञो विरूपामपि कन्यकाम्।
रूपशीलां न नीचस्य विवाहः सदृशे कुले।।१४।।

बुद्धिमान् व्यक्ति को कुलीन घर की कन्या से ही विवाह करना चाहिए, उसे सौन्दर्य के पीछे नहीं भागना चाहिए। कुलीन कन्या का रूप भले ही समान्य हो, परन्तु व्यक्ति को अपना सम्बन्ध कुलीन घराने की कन्या से ही करना चाहिए। इसके विपरीत नीच कुल की सुन्दर कन्या से केवल उसका रूप देखकर सम्बन्ध स्थापित करना उचित नहीं।

कहने का अर्थ यही है कि विवाह एक ऐसा सम्बन्ध है जो समान स्तर के परिवारों में ही होना चाहिए। केवल रूप के पीछे भागकर व्यक्ति यदि नीच कुल की कन्या से विवाह करता है तो यह बात न तो उसके स्वयं के हित की होती है और न समाज के। इसलिए मनुष्य के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने कुल के सम्मान के अनुरूप ही सम्बन्ध स्थापित करे।

चाणक्य के इस कथन का भावार्थ यह है कि स्त्री में लज्जा, चातुर्य और शालीनता आदि गुण वंश-परम्परा से ही आते हैं, रूप से उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता। रूप सदा न रहने वाली चीज है, वह नश्वर है। कुछ शास्त्रकारों ने यह भी कहा है कि रूपवती भार्या, अर्थात् अत्यन्त रूप वाली स्त्री एक प्रकार से मनुष्य की शत्रु होती है। इसका अर्थ यही है कि रूप के कारण अनेक स्त्रियां ईर्ष्या-द्वेष और डाह का कारण बनती हैं। इसलिए बुद्धिमान् व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह केवल रूप के पीछे न पड़कर गुणों की कद्र करना सीखे।

इस श्लोक का अर्थ चाणक्य के अन्य संदर्भ में कहे गए उस श्लोक के समान है जिसमें उन्होंने यह कहा है कि मूर्ख मित्र से बुद्धिमान् शत्रु अच्छा है, परन्तु

आजकल जन-सामान्य में जो विचार पाया जाता है, उसमें इन तीनों बातों का ही ध्यान नहीं रखा जाता। अधिकांश व्यक्ति न तो कुलीन घराने की बात सोचते हैं और न बुद्धिमान् शत्रु की। प्रायः सभी नवयुवकों का ध्यान लड़की के सौन्दर्य की ओर ही होता है और केवल सौन्दर्य के पीछे भागने वालों को कन्या के घराने की कुलीनता के सम्बन्ध में अधिक जानने की आवश्यकता ही नहीं होती। इसका फल यह होता है कि अन्त में वह परिवार दुःखों का शिकार हो जाता है। या तो पत्नी को आत्महत्या करनी पड़ती है अथवा पति के परिवार वाले व्यक्ति उसे यातना देकर मार डालते हैं।

नखीनां च नदीनां च शृंगीणां शस्त्रपाणिनाम्।
विश्वासो नैव कर्त्तव्यः स्त्रीषु राजकुलेषु च।।१५।।

लम्बे नाखून वाले हिंसक पशुओं, नदियों, बड़े-बड़े सींग वाले पशुओं, शस्त्रधारियों, स्त्रियों और राज-परिवारों का कभी विश्वास नहीं करना चाहिए।

यदि आप कोई नदी पार करना चाहते हैं तो आपको किसी व्यक्ति के यह कहने पर विश्वास नहीं करना चाहिए कि नदी का प्रवाह अथवा गहराई कितनी है, क्योंकि नदी के प्रवाह और उसकी गहराई के सम्बन्ध में कोई निश्चित धारणा कभी नहीं बनाई जा सकती। इसलिए आप यदि नदी में उतरते हैं तो आपका सावधान रहना आवश्यक है। इसी प्रकार शस्त्रधारी व्यक्ति अथवा लम्बे नाखून वाले सिंह, भालू अथवा बाघ आदि पर भी भरोसा नहीं किया जा सकता, क्योंकि उनके सम्बन्ध में आप इस बात के लिए आश्वस्त नहीं हो सकते कि वे आप पर आक्रमण नहीं करेंगे। हिंसक पशु तो स्वभाव से ही आक्रामक प्रवृत्ति के होते हैं, इसलिए उन पर विश्वास करने वाला व्यक्ति सदा धोखा खाता है। इसी प्रकार चाणक्य का यह कहना भी है कि स्त्रियों और राजपरिवारों का भी विश्वास नहीं किया जा सकता। क्योंकि न जाने वे कब स्वार्थवश आपका अहित कर बैठें।

नदी के वेग के सम्बन्ध में स्थितियां सदैव अनिश्चित रहती हैं। इसलिए उसकी गहराई और उसके प्रवाह की तेजी के सम्बन्ध विश्वास नहीं किया जा सकता। यदि कोई व्यक्ति किसी का कहा मान कर स्वयं निश्चित हुए बिना नदी में उतर पड़ेगा तो सम्भव है कि वह भंवर में फंस कर फिर कभी बाहर ही न आ सके। इसलिए उन्हें पार करना एक साधारण-सी बात मान कर उनमें उतर जाना महान् मूर्खता है।

आज के युग में भी चाणक्य की ये बातें पूर्णतया सत्य और सही प्रतीत होती हैं। जिस प्रकार दुनिया-भर में आतंकवाद का बोलबाला है, आप किसी

शस्त्रधारी व्यक्ति पर कैसे भरोसा कर सकते हैं? यदि शस्त्रधारी व्यक्ति आपसे मीठी बातें करे और आपको यह विश्वास दिलाए कि वह आप पर कोई आक्रमण नहीं करेगा तो भी उस पर कभी विश्वास नहीं करना चाहिए, क्योंकि शस्त्र एक ऐसा बल है जो सामान्य व्यक्ति के बल से कहीं अधिक संहारक होता है। मनुष्य का मन चंचल होने के कारण भी यह नहीं कहा जा सकता कि शस्त्रधारी व्यक्ति का मन कब बदल जायेगा।

अनेक बार समाचारपत्रों में इस प्रकार की बातें पढ़ने में आई हैं कि किसी व्यक्ति को आठ-दस साल से अधिक समय के पालतू कुत्ते ने काट खाया, जबकि कुत्ते की स्वामीभक्ति के सम्बन्ध में प्रायः सभी व्यक्ति आश्वस्त होते हैं। कुत्ता भले ही अधिक लम्बे नाखूनों वाला और सिंह तथा भालू आदि की तरह से हिंसक भी नहीं, परन्तु वह भी उन्हीं की जाति का होने के कारण जब ऐसा काम कर देता है तो भला लम्बे नाखूनों वाले हिंसक पशुओं पर कैसे भरोसा किया जा सकता है? इसका एक प्रमाण यह भी है कि कई बार सर्कस के भालू और सिंह आदि ने बिगड़ कर अपने मालिक पर आक्रमण किया है। इसलिए बुद्धिमान् व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह सदैव ही ऐसे हिंसक पशुओं से बच कर रहे, उनसे सतर्क रहे।

चाणक्य की ऐसी मान्यता है कि बहुत-सी स्त्रियां कहती कुछ हैं तथा करती कुछ और हैं। बहुत-सी ऐसी स्त्रियां भी होती हैं जो प्रेम किसी से करती हैं और प्रेम का प्रदर्शन किसी अन्य व्यक्ति से करती हैं। इसलिए चाणक्य का कहना है कि एकाएक उनकी स्वामीभक्ति अथवा पतिव्रता होने पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

चाणक्य का राजपरिवार में विश्वास न करने का एक कारण यह है कि राजनीति सदा से परिवर्तनशील रही है। राजपरिवार के लोग अपने स्वार्थों के कारण अपनी नीतियां बदलते रहते हैं। वे अपने स्वार्थ के अनुरूप ही किसी को मित्र अथवा शत्रु मानते हैं। किसी समय के शत्रु राजनीति में कभी मित्र भी बन जाते हैं और बहुत काल तक मित्र रहने वाले शत्रु भी बन जाते हैं। अनेक बार ऐसा हुआ है कि ऐसे व्यक्तियों को मौत के घाट उतार दिया गया, जो उनके निकट सम्बन्धी थे। मध्ययुगीन इतिहास इस बात का साक्षी है कि राज्य-प्राप्ति के लिए बेटे ने बाप, भाइयों और अन्य सम्बन्धियों को तलवार के घाट उतार दिया। इसलिए चाणक्य का यह कहना सर्वथा उचित है कि राजपरिवार से उसके हितों को परिप्रेक्ष्य में रखकर ही सम्बन्ध बनाना चाहिए। यह जानकर सब पर भरोसा नहीं किया जा सकता कि वे आपके परिचित अथवा मित्र हैं। आज की

राजनीति तो इस विचार से और भी अधिक विकृत हो चुकी है। कोई भी राजनीतिज्ञ व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि उसका दामन अछूता है। राजनीति का एक पहलू यह भी है कि जहां वह एक पक्ष में बहुत-से लोगों का हित सिद्ध करती है, वहीं दूसरी ओर अनेक व्यक्ति उसमें हानि की सम्भावना भी देखते हैं। इसलिए चाणक्य का यह कहना सर्वथा उचित है कि राजपरिवार के लोगों से बचकर रहने में ही कल्याण है।

विषादप्यमृतं ग्राह्यममेध्यादपि काञ्चनम्।
नीचादप्युत्तमा विद्या स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि।।१६।।

चाणक्य का मत है कि यदि विष में से अमृत की प्राप्ति होती है तो उसको ग्रहण कर लेना चाहिए, उसका परित्याग नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार यदि किसी गन्दी जगह सोना आदि कोई मूल्यवान वस्तु पड़ी हो तो उसे भी उठा लेना चाहिए, अर्थात् यदि किसी नीच व्यक्ति के पास अच्छी विद्या है, अच्छा गुण है तो उसे ग्रहण करने में संकोच नहीं करना चाहिए। चाणक्य यह भी मानते हैं कि यदि कोई नीच कुल की शालीन स्त्री अच्छे गुणों से युक्त है तो उसे ग्रहण करने में भी कोई हानि नहीं। उसके परिवार की चिन्ता किए बिना उसको ग्रहण किया जा सकता है। अच्छे गुणों से युक्त नीच कुल की स्त्री को ग्रहण करते समय उसके परिवार के सम्बन्ध में चिन्ता करना लाभदायक नहीं।

कहने का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति को अमृत, स्वर्ण, विद्या तथा गुण और स्त्री-रत्न को ग्रहण करने से हिचकिचाना नहीं चाहिए, अर्थात् बुरे स्रोत से कोई उत्तम पदार्थ प्राप्त होता हो तो उसे प्राप्त करने में व्यक्ति को संकोच नहीं करना चाहिए। चाणक्य ने एक स्थान पर यह भी कहा है कि नीच कुल की सुन्दर कन्या से विवाह आदि नहीं करना चाहिए, परन्तु यहां उसका संकेत इस ओर है कि भले ही कन्या छोटे कुल में उत्पन्न हुई हो, पर वह गुणवती हो तो उसे ग्रहण करने में चाणक्य आपत्ति नहीं समझते। यहां उन्होंने उसके गुणों की ओर संकेत किया है उसके रूप की ओर नहीं। विवाह के सम्बन्ध में तो चाणक्य की यह स्पष्ट धारणा है कि वह तो समान स्तर के परिवार में ही होना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि चाणक्य विवाह के बाद होने वाले परिणामों से पूर्णतया परिचित थे। जैसा कि आज हम देखते हैं कि समान स्तर और समान विचार वाले परिवारों में विवाह न होने के कारण व्यक्ति को अनेक संकटों से गुजरना पड़ता है।

स्त्रीणां द्विगुण आहारो लज्जा चापि चतुर्गुणाः।
साहसं षड्गुणं चैव कामश्चाष्टगुणः स्मृतः।।१७।।

इस श्लोक से प्रतीत होता है कि स्त्रियों के सम्बन्ध में चाणक्य का अध्ययन

कितना गहन था। उनका कहना है कि स्त्रियां मनुष्य से दो गुणा अधिक भोजन करती हैं। इसके साथ ही चाणक्य का यह भी कहना है कि स्त्रियों में लज्जा पुरुष की अपेक्षा चार गुणा अधिक होती है। यही कारण है कि आदमी उनके मन की कोई बात समझने में कभी पूर्णतया समर्थ नहीं होता। वह कितना भी प्रयत्न करे, स्त्रियां कभी भी खुलकर अपने मन की बात नहीं बतातीं। चाणक्य आगे कहते हैं कि स्त्रियों में साहस आदमियों की अपेक्षा छह गुणा अधिक होता है तथा उनमें कामवासना आठ गुणा अधिक होती है।

हम इस बात पर किसी तरह की टीका नहीं करना चाहते। चाणक्य का यह निष्कर्ष है कि स्त्री मनुष्य से दुगुना भोजन करती है। स्त्री की लज्जा के सम्बन्ध में तो प्रायः सभी परिचित हैं। इसलिए स्त्री के मन का भेद पाना अत्यन्त कठिन कार्य है। साहस की सीमा के सम्बन्ध में भी यह कहा जा सकता है कि वह ऐसा कार्य करने में भी नहीं हिचकिचाती, जिसे पुरुष करने से पहले कई बार सोचेगा। कामवासना के सम्बन्ध में भी, जिसका लज्जा से सम्बन्ध है, सामान्य जन स्त्री का अनुमान नहीं कर सकता। लज्जा का आवरण ही इस बात को ढंक कर रखता है। इसलिए प्रायः वासना-सम्बन्धी पहल मनुष्य की ओर से होती है, क्योंकि मनुष्य अपने मन की भावनाओं को अधिक देर तक छिपा नहीं सकता। सम्भवतः ये कुछ ऐसी बातें हैं जिनके कारण मनुष्य को पहल करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं होता।

द्वितीय अध्याय

अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमतिलोभिता।
अशौचत्वं निर्दयत्वं स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः।।१।।

इस श्लोक से चाणक्य का अभिप्राय है कि स्त्रियां स्वभाव से ही झूठ बोलने वाली, अत्यन्त साहसीं, छली-कपटी, धोखा देने वाली, मूर्खतापूर्ण बातें करने वाली, अत्यन्त लोभी, अपवित्र और दया-माया से रहित होती हैं। अर्थात् स्त्रियों में जन्म से ही झूठ बोलने की प्रवृत्ति होती है। वे अपने दुःसाहस के कारण कोई भी ऐसा कार्य्र कर सकती हैं, जिसके सम्बन्ध में एकाएक भरोसा नहीं किया जा सकता। उनके मायाजाल और छल-कपट के सम्बन्ध में तो सब जानते हैं। उनका मूर्ख, लोभी, अपवित्र और निर्दयी होना भी जगत्-विख्यात है।

चाणक्य के इस श्लोक से स्पष्ट है कि वे मानते हैं कि कुछ बातें व्यक्ति में स्वभाव से ही होती हैं और कुछ बातें अथवा गुण प्रयत्न करने पर प्राप्त किए जा सकते हैं। स्वभाव से ही पाये जाने वाले गुणों अथवा दुर्गुणों को ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं होती। वे तो मनुष्य की प्रकृति में ही होते हैं। विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि जीवधारी बहुत-से रोग और स्वभाव अपने जन्म देने वाले से ही ग्रहण करते हैं, परन्तु बहुत-से गुण अथवा कलाएं ऐसी भी होती हैं, जिनकी प्राप्ति के लिए व्यक्ति को प्रयत्न करना पड़ता है। पक्षी स्वभाव से ही उड़ते हैं तथा वन्य-प्राणी स्वभाव से ही हिंसक होते हैं। इस प्रकार के गुण सहज अथवा स्वाभाविक कहलाते हैं, परन्तु विद्याध्ययन, कला, विज्ञान अथवा इसी प्रकार के अन्य गुण ग्रहण करने के लिए व्यक्ति को अनेक प्रयत्न करने पड़ते हैं। जिस प्रकार पानी का स्वभाव सदा नीचे की ओर बहना है, उसी प्रकार मनुष्य का भी दुर्गुणों अथवा कमजोरियों की ओर सहज आकर्षण होता है। उनसे बचने अथवा विपरीत दिशा में चलने के लिए व्यक्ति को प्रयत्न करना पड़ता है।

यहाँ चाणक्य ने स्त्रियों के सम्बन्ध में जिन स्वाभाविक वृत्तियों का वर्णन किया है, आवश्यक नहीं कि वे शत-प्रतिशत स्त्रियों में हों और सम्भवतः

चाणक्य की यह भावना भी नहीं रही होगी, परन्तु बात बहुमत की है।

भोज्यं भोजनशक्तिश्च रतिशक्तिर्वरांगना।
विभवो दानशक्तिश्च नाऽल्पस्य तपसः फलम्।।२।।

चाणक्य का विश्वास है कि खाने-पीने के पदार्थों का सुलभ होना और खाने-पीने की सामर्थ्य होना, भोग-विलास की शक्ति के साथ-साथ उसकी तृप्ति के लिए सुन्दर स्त्री का मिलना और धन-सम्पत्ति के होने पर उसके उपभोग के साथ दान आदि की प्रवृत्ति होना, ये बातें पूर्वजन्म के संयोग के कारण ही होती हैं अथवा मनुष्य के तप से ही ऐसा फल मिलता है।

प्रायः ऐसा देखने में आता है कि जिन व्यक्तियों के पास भोज्य पदार्थों की कोई कमी नहीं, उनके पास उन्हें खाकर पचाने की सामर्थ्य नहीं होती। आप इस बात को सामान्य शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि जिसके पास चने हैं उसके पास उनका आनन्द उठाने के लिए दांत नहीं और जिसके पास दांत हैं, उसके पास चने नहीं। सामान्य बात यह है कि अत्यन्त धनवान् व्यक्ति भी ऐसे रोगों से ग्रस्त रहते हैं, जिन्हें मूंग की दाल भी नहीं पचती, परन्तु जो व्यक्ति खूब हृष्ट-पुष्ट हैं, तगड़े हैं, तथा जिनकी पाचनशक्ति भी तेज है, उनके पास कुछ खाने को ही नहीं होता। इसी प्रकार बहुत-से व्यक्तियों के पास धन-दौलत और वैभव की कोई कमी नहीं होती, परन्तु उनमें उसके उपभोग करने और दान देने की प्रवृत्ति नहीं होती। ये बातें जिन व्यक्तियों में समान रूप से मिलती हैं, चाणक्य उसे उनके पूर्वजन्म के तप का फल मानते हैं। अर्थात् उनका यह कहना है कि खाने-पीने की वस्तुओं के साथ उन्हें पचाने की शक्ति, सुन्दर स्त्री के रहने पर मनुष्य में सम्भोग की शक्ति और धन के रहने पर उसका सदुपयोग और दान की प्रवृत्ति जिस व्यक्ति में होती है, वह बहुत भाग्यशाली होता है।

यस्य पुत्रो वशीभूतो भार्या छन्दानुगामिनी।
विभवे यश्च सन्तुष्टस्तस्य स्वर्ग इहैव हि।।३।।

इस श्लोक का अर्थ है कि जिसका पुत्र आज्ञाकारी हो और स्त्री पति के अनुकूल आचरण करने वाली हो, पतिव्रता हो और जिसको प्राप्त धन से ही सन्तोष हो अर्थात् उसके पास जितना धन है, वह उसी में सन्तुष्ट रहता हो, ऐसे व्यक्ति के लिए स्वर्ग इसी धरती पर है।

पुत्र का आज्ञापालक होना, स्त्री का पतिपरायणा होना और मनुष्य का धन के प्रति अधिक तृष्णा न रखना अथवा मन में असन्तोष न पैदा होने देना ही स्वर्ग के मिलने वाले सुख के समान है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि स्वर्ग अनेक शुभ

अथवा पुण्य कार्यों के अर्जित करने से ही प्राप्त होता है। उसी प्रकार इस संसार में उक्त तीनों सुख भी मनुष्य को पुण्य कर्मों से ही प्राप्त होते हैं। जिस व्यक्ति को ये तीनों सुख प्राप्त हों, उसे बहुत भाग्यशाली समझना चाहिए।

इस संसार में कुछ चीजें ऐसी हैं जो मनुष्य के दुःख का कारण होती हैं, परन्तु वास्तव में यह सब मनुष्य के दृष्टिकोण का ही अन्तर है। जो व्यक्ति पुत्र के आज्ञापालक और स्त्री के पतिपरायणा होने पर भी अपने अर्जित धन से सन्तुष्ट नहीं होता वह भी सदा दुःखी रहता है। उसके मन में सदा तनाव बना रहता है। इसीलिए हमारे धर्मशास्त्रों में कहा है –

सन्तोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम्।

इसीलिए उक्त दोनों बातों के साथ-साथ मनुष्य को अपने द्वारा अर्जित धन से भी सन्तुष्ट रहना चाहिए। तभी इस पृथ्वी पर स्वर्ग की कल्पना की जा सकती है।

ते पुत्रा ये पितुर्भक्ताः सः पिता यस्तु पोषकः।
तन्मित्रं यत्र विश्वासः सा भार्या यत्र निवृतिः।।४।।

यदि पुत्र हो तो पिता का भक्त हो अर्थात् माता-पिता के दुःखों को दूर करने में जो सहायक होता है वही पुत्र कहलाने का अधिकारी है। इसी प्रकार सन्तान का भरण-पोषण करने वाला, उनके सुख-दुःख का ध्यान रखने वाला व्यक्ति ही सच्चे अर्थों में पिता कहला सकता है। विश्वास करने योग्य व्यक्ति को ही सच्चा मित्र कहा गया है और अपने पति को सुख देने वाली स्त्री को ही सच्चे अर्थों में पत्नी माना गया है।

इस संसार में सम्बन्ध तो अनेक प्रकार के हैं, परन्तु सबसे निकट के सम्बन्ध पिता, पुत्र, माता और पत्नी के रूप में पाये जाते हैं। इसलिए यह कहा जा सकता है कि माता-पिता की सेवा न करने वाली सन्तान को सन्तान कहना व्यर्थ है। इसी प्रकार अपनी सन्तान और अपने परिवार का भरण-पोषण करने वाला व्यक्ति ही पिता कहला सकता है तथा मित्र भी ऐसे व्यक्ति को ही माना जा सकता है जिस पर कभी भी किसी प्रकार से अविश्वास न किया जा सके। अपने अनुकूल आचरण से पति को सुख देने वाली स्त्री ही सच्चे अर्थों में पत्नी कहला सकती है। इसका अर्थ यह है कि नाम और सम्बन्धों के बहाने एक-दूसरे से जुड़े रहने में कोई सार नहीं, सम्बन्धों की वास्तविकता तो तभी तक है जब सब अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए एक-दूसरे को सुखी बनाने का प्रयत्न करें।

इसका अर्थ यह है कि पुत्र को माता-पिता की सेवा करनी चाहिए। पिता का

कर्त्तव्य है कि वह अपने परिवार का भरण-पोषण उपयुक्त ढंग से करे। मित्र का कर्त्तव्य अपने-आप पर भरोसा करने वाले व्यक्ति का विश्वास जीतना और स्त्री का कर्त्तव्य अपने पति को सुखी बनाना है। इन कर्त्तव्यों की पूर्ति के बिना सम्बन्धों का कोई लाभ नहीं रहता।

परोक्षे कार्यहन्तारं प्रत्यक्षे प्रियवादिनम्।
वर्जयेत् तादृशं मित्रं विषकुम्भं पयोमुखम्।।५।।

पीठ पीछे रहकर दूसरे की बुराई करना अथवा किसी व्यक्ति के कार्यों में हानि का प्रयत्न करना और उसके मुख पर अथवा उसके सामने मीठी-मीठी बातें करना, बहुत अनुपयुक्त है। ऐसा करने वाले को उसी प्रकार त्याग देना चाहिए जिस प्रकार ऊपर दूध और नीचे विष से भरे हुए मटके को एकदम दूर फेंक देते हैं। सामने रहकर मीठी-मीठी बातें करने वाले और पीठ पीछे काम बिगाड़ने अथवा निन्दा करने वाले व्यक्ति से सम्पर्क नहीं रखना चाहिए। वास्तविक मित्र तो वही होता है, जो मुंह पर खरी-खोटी बात सुना दे, परन्तु पीठ पीछे न तो मित्र की निन्दा करे, न उसका काम बिगड़ने दे और न उसकी निन्दा सुने। इसके विपरीत जो व्यक्ति मुंह पर चिकनी-चुपड़ी बातें करता है और आंखों से ओझल होते ही हानि पहुंचाने वाले कार्य करता है, ऐसे व्यक्ति को मित्र न समझ कर मित्र के रूप में छिपा हुआ शत्रु ही समझना चाहिए। वह तो उसी प्रकार त्याज्य है, जिस प्रकार विष से भरे हुए घड़े के मुख पर दूध रूपी अमृत के होने पर भी उसे फेंक देते हैं। ऐसे ही मित्रों को पीठ में छुरा घोंपने वाला कहा जाता है। जो व्यक्ति ऐसे मित्र पर भरोसा करता है, उसकी मृत्यु उसी प्रकार हो जाएगी जैसे विष से भरे हुए घड़े के मुख पर थोड़ा-सा दूध देखकर उसको मुख से लगाने वाले की होती है।

न विश्वसेत् कुमित्रे च मित्रे चाऽपि न विश्वसेत्।
कदाचित् कुपितं मित्रं सर्वं गुह्यं प्रकाशयेत्।।६।।

निकृष्ट मित्र पर विश्वास करने की बात तो दूर, अच्छे मित्र के सम्बन्ध में भी चाणक्य का कहना है कि उस पर भी पूरा विश्वास न किया जाए; क्योंकि उससे इस बात की आशंका बनी रहती है कि किसी बात पर क्रुद्ध हो जाने पर वह सारे भेद प्रकट न कर दे।

चाणक्य के इस श्लोक का वास्तविक अर्थ यह है कि बेकार के मित्रों पर तो भरोसा करना ही नहीं चाहिए, परन्तु आप जिसे सच्चा मित्र समझते हैं उसे भी बहुत सोच-समझ कर अपना भेद देना अथवा उसके साथ व्यवहार करना चाहिए, क्योंकि इस बात की आशंका रहती है कि वह किसी बात से खिन्न होकर

सारा भेद न उगल दे। उसपर इस बात की भी आशंका की जा सकती है कि मित्र के रहस्यों को प्रकट करने की धमकी देकर कहीं अनुचित कार्य करने के लिए विवश कर दे। अतः चाणक्य का विश्वास है कि जिसे आप अच्छा मित्र समझते हैं, उसे भी अपने सभी दोष अथवा बुरे कामों का ब्यौरा नहीं देना चाहिए। कुछ बातों के बारे में उससे भी परदा रखना आवश्यक है। बुरे मित्र के पेट में किसी बात का पचना तो वैसे ही असम्भव है।

मनसा चिन्तितं कार्यं वाचा नैव प्रकाशयेत्।
मन्त्रेण रक्षयेद् गूढं कार्ये चाऽपि नियोजयेत्।।७।।

यदि किसी कार्य के सम्बन्ध में कोई योजना बनाई हो तो उसे वाणी से प्रकट नहीं करना चाहिए अर्थात् उसे कार्यरूप में परिणत करने तक गुप्त मन्त्र के समान सुरक्षित रखना चाहिए।

चाणक्य के इस कथन का बड़ा गूढ़ अर्थ है। मनोविज्ञान का नियम है कि आप जिस कार्य के लिए अधिक चिन्तन और मनन करेंगे और चुपचाप उसको कार्यरूप में परिणत करने का प्रयत्न करेंगे उसमें सिद्धि प्राप्त करने का अवसर निश्चित होगा। इसका एक पक्ष यह भी है कि यदि कोई व्यक्ति अपनी योजना को कार्यरूप देने से पहले किसी दूसरे को बता देता है तो हो सकता है कि दूसरा व्यक्ति उस सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करके स्वयं ही उस दिशा में कोई पहल कर ले और मूल रूप से जिस व्यक्ति ने योजना बनाई है वह देखता ही रह जाए। यह भी सम्भव है कि योजना बनाने वाला व्यक्ति योजना के प्रकट हो जाने से संकट में पड़ जाये। एक सम्भावना यह भी है कि योजना में त्रुटियां अथवा दोष निकाल कर योजना बनाने वाले व्यक्ति को हतोत्साहित कर दिया जाए, जिससे वह योजना की पूर्ति के लिए कोई कदम ही न उठाये। इन्हीं सब बातों को देखते हुए चाणक्य का यह परामर्श है कि अपने मन में सोची हुई किसी नई योजना को कार्यरूप में लाने से पहले वाणी से प्रकट नहीं करना चाहिए। योजना पर अमल करने से पहले उसे यत्नपूर्वक छिपा कर रखना ही योजना बनाने वाले के हित में है।

कष्टं च खलु मूर्खत्वं कष्टं च खलु यौवनम्।
कष्टात् कष्टतरं चैव परगेह-निवासनम्।।८।।

अनेक अनर्थों की जड़ होने के कारण मूर्खता बहुत कष्ट देने वाली है। इसी प्रकार यौवन भी कष्टकर होता है, परन्तु दूसरे व्यक्ति के घर में किसी विवशता के कारण रहना सर्वाधिक कष्टकर कार्य है।

मूर्ख व्यक्ति को उचित-अनुचित का विवेक न होने के कारण हमेशा अपमानित और दण्डित होना पड़ता है। इसीलिए कहा गया है कि मूर्ख होना अपने-आप में एक बड़ा अभिशाप है। मूर्ख व्यक्ति को इस बात का ज्ञान नहीं होता कि कौन-सी बात उचित है और कौन-सी अनुचित। इसी प्रकार जवानी भी अनेक बुराईयों की जड़ है। अनेक व्यक्तियों ने कहा है कि जवानी अन्धी और दीवानी होती है। जवानी के दिनों में व्यक्ति काम के आवेग में विवेक खो बैठता है, उसे अपनी शक्ति पर गलत भरोसा होता है, उसमें इतना अहं भर जाता है कि वह अपने सामने किसी दूसरे व्यक्ति को कुछ समझता ही नहीं। जवानी मनुष्य को विवेकहीन ही नहीं, निर्लज्ज भी बना देती है, जिसके कारण व्यक्ति को अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं।

चाणक्य का मानना है कि उक्त सभी कष्टों से अधिक कष्ट इस बात का होता है कि मनुष्य को विवश होकर किसी दूसरे के घर में रहना पड़े। दूसरे के घर पर रहने वाला व्यक्ति दूसरे की कृपा पर ही रहता है। उसे हर बात में उस घर की व्यवस्था का अनुसरण करना पड़ता है, जहां वह रह रहा है। इस प्रकार उसकी स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है तथा उसे गृहस्वामी की प्रत्येक उचित-अनुचित बात सहन करनी पड़ती है। इसीलिए सम्भवतः किसी मस्त फकीर ने कहा था—"जो सुख छज्जू के चौबारे, वह न बलख न बुखारे"। इसी प्रकार एक अन्य लोकोक्ति भी प्रचलित है कि—"पराया घर, थूकने का भी डर"—अर्थात् पराये घर में प्रत्येक काम उसी प्रकार करना पड़ता है, जिससे गृहस्वामी को कोई कष्ट न पहुंचे।

शैले शैले न माणिक्यं मौक्तिकं न गजे गजे।
साधवो न हि सर्वत्र चन्दनं न वने वने।।९।।

यह नहीं कहा जा सकता है कि प्रत्येक पर्वत पर मणि-माणिक्य ही प्राप्त होंगे, इसी प्रकार प्रत्येक हाथी के मस्तक से मुक्ता-मणि नहीं प्राप्त होती। संसार में मनुष्यों की कमी न होने पर भी अच्छे पुरुष सब जगह नहीं मिलते। इसी प्रकार चन्दन के कुछ वन तो हैं, परन्तु सभी वनों में चन्दन के वृक्ष उपलब्ध नहीं होते।

चाणक्य के इस श्लोक का अर्थ यह है कि अनेक पर्वतों पर मणि-माणिक्य मिलते हैं, परन्तु सभी पर्वतों पर नहीं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि कुछ हाथी ऐसे होते हैं जिनके मस्तक में मणि विद्यमान रहती है, परन्तु ऐसा सभी हाथियों में नहीं होता। इसी प्रकार इस पृथ्वी पर पर्वतों और जंगलों अथवा वनों

की कमी नहीं, परन्तु सभी वनों में चन्दन नहीं मिलता। इसी प्रकार साधु व्यक्ति भी सभी जगह नहीं दिखाई देते।

साधु शब्द से चाणक्य का अर्थ है व्यक्ति का सज्जन होना। ऐसा व्यक्ति जो दूसरों के बिगड़े हुए कार्य को बनाता हो, जो अपने मन को अध्यात्मवाद की ओर ले जाता हो और निःस्वार्थ भाव से लोक-कल्याण की कामना करता हो। साधु का अर्थ यहां केवल भगवे कपड़े पहनने वाले व्यक्ति से नहीं है। यहां इसका भाव आदर्श समाजसेवी व्यक्ति से है, परन्तु ऐसे आदर्श व्यक्ति सब जगह कहां मिलते हैं!

पुत्राश्च विविधैः शीलैर्नियोज्याः सततं बुधैः।
नीतिज्ञाः शीलसम्पन्ना भवन्ति कुलपूजिताः।।१०।।

बुद्धिमान् व्यक्तियों को चाहिए कि वे अपने पुत्रों को चरित्र निर्माण करने वाले कार्यों में लगाएं; क्योंकि नीति को समझने वाले, श्रद्धालु तथा शील स्वभाव वाले व्यक्ति ही विश्व में पूज्य समझे जाते हैं।

भाव यह है कि बच्चों को बचपन से ही ऐसे कार्यों में लगा देना चाहिए कि वे चरित्रवान् और नीति-निपुण बने, जिससे समाज में उनका आदर हो। ऐसा तभी सम्भव हो सकता है जब माता-पिता बालक को जीवन के प्रारम्भ से ही ठीक मार्ग पर चलने की प्रेरणा दें। इसके विपरीत यदि उन्होंने बालक को लाड-प्यार में बिगाड़ दिया तो बचपन में बिगड़ा उसका स्वभाव आगे चलकर नहीं बदल सकेगा। अतः आचार्य चाणक्य का निर्देश है कि माता-पिता का यह कर्त्तव्य है कि वे अपने बच्चों का सही मार्गदर्शन करें, उन्हें कुरीतियों से बचने की शिक्षा दें तथा उन्हें इस प्रकार के कार्यों की ओर प्रवृत्त करें जिससे वे शील-सम्पन्न हो सकें; क्योंकि इसी से उनके कुल की मर्यादा बनी रह सकती है।

नेतागण प्रायः कहते हैं कि बालक देश का भविष्य हैं। यह बात बिल्कुल सही है, परन्तु यह भविष्य तभी अच्छा हो सकता है जब हम बालकों को उचित शिक्षा दें और उन्हें सन्मार्ग की ओर चलने के लिए प्रेरित करते रहें।

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा।।११।।

ऐसे माता-पिता को बेटे का शत्रु ही माना जाता है, जो उसे शिक्षित नहीं करते। अशिक्षित पुत्र अथवा व्यक्ति बुद्धिमान् व्यक्तियों की सभा में उसी प्रकार शोभित नहीं होता जिस प्रकार हंसों के झुण्ड में बगुला अच्छा नहीं लगता। जो माता-पिता अपनी सन्तान को सुशिक्षित नहीं करते, वे बच्चे के शुभचिन्तक

अथवा मित्र नहीं कहे जा सकते। एक प्रकार से वे उसके शत्रु ही होते हैं। यदि वह अशिक्षित पुत्र विद्वानों की किसी सभा में जायेगा तो जिस प्रकार रूप-रंग में एक जैसा होने पर भी बगुला हंसों के झुण्ड में अच्छा नहीं लगता, उसी प्रकार वह भी शोभाहीन ही प्रतीत होगा।

चाणक्य की इस बात से यह स्पष्ट है कि केवल धन नहीं, शिक्षा व्यक्ति को आदर के योग्य बनाती है। शिक्षा ही मनुष्य को समाज में प्रतिष्ठा व सम्मान दिलाती है। चाणक्य ने अपने किसी अन्य ग्रन्थ में कहा है कि शिक्षा से हीन व्यक्ति पूंछ और सींग से रहित पशु के समान होता है। अतः माता-पिता का कर्त्तव्य है कि वे बच्चे को शिक्षित करने का प्रयत्न करें। ऐसा न करने वाले माता-पिता को सन्तान का शत्रु ही कहा जायेगा।

लालनाद् बहवो दोषास्ताडनाद् बहवो गुणाः।
तस्मात्पुत्रं च शिष्यं च ताडयेन्न तु लालयेत्।।१२।।

चाणक्य का कहना है कि लाड-प्यार से पुत्र और शिष्य में दोष उत्पन्न हो जाते हैं और ताड़ना से उनमें गुणों का विकास होता है। उनका कहना है कि इसीलिए पुत्र और शिष्य को लाड-प्यार करने की अपेक्षा ताड़ना करनी चाहिए।

वस्तुतः इसका अर्थ यह है कि माता-पिता अथवा गुरु जब बच्चे की ताड़ना करते हैं तो परोक्ष रूप से उस ताड़ना में अमृत भरा होता है। बच्चों का भविष्य उज्ज्वल बनाने में उससे बड़ी सहायता मिलती है। वे किसी द्वेष से अथवा अपने शौक को पूरा करने के लिए उनकी ताड़ना नहीं करते और न ही उस ताड़ना से उन्हें सुख प्राप्त होता है। वे तो बच्चे की भलाई से प्रेरित होकर ही यह अप्रिय कार्य करने के लिए बाध्य होते हैं।

चाणक्य का कथन है कि जहां बच्चों की पिटाई अथवा डांट-डपट में अनेक गुण हैं, वहां बेकार के लाड-प्यार में अनेक दोष भी हैं। माता-पिता अथवा गुरु बच्चे की ताड़ना उसके सुधार की दृष्टि से करते हैं, जिससे बच्चा अथवा शिष्य अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरूक होता है। वह इस बात से भयभीत रहता है कि यदि उसने अपने कर्त्तव्य में किसी प्रकार की ढील की तो उसे दण्ड भुगतना होगा। इसके विपरीत लाड-प्यार में बच्चा मनमानी करने लगता है और अपनी इच्छा के अनुरूप उल्टे-सीधे कार्य करके अनजाने में अनेक बुराइयों का शिकार होता है। इसलिए चाणक्य का परामर्श है कि माता-पिता अथवा गुरु को अपने पुत्र अथवा शिष्य का इस बात के लिए ध्यान रखना चाहिए कि उसमें कोई बुरी आदतें घर न कर जायें। उनसे बचाने के लिए उनकी ताड़ना आवश्यक है, ताकि

वे अपने भावी जीवन में कर्त्तव्य के प्रति उदासीन न हों।

श्लोकेन वा तदर्द्धेन तदर्धार्धाक्षरेण वा।
अबन्ध्यं दिवसं कुर्याद् दानाध्ययनकर्मभिः।।१३।।

इस श्लोक में आचार्य चाणक्य का कहना है कि व्यक्ति को प्रतिदिन कुछ-न-कुछ स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए। आचार्य का कहना है कि मनुष्य को चाहिए कि वह प्रतिदिन शास्त्र का कम-से-कम एक श्लोक पढ़े व उसका अर्थ समझे। यदि उसके पास समय नहीं है तो पूरा श्लोक न पढ़कर आधा अथवा आधे से आधे श्लोक का ही अध्ययन करके अपने दिन को सार्थक बनाये। जो व्यक्ति दिन-भर में किसी शास्त्र अथवा उत्तम पुस्तक का एक अक्षर भी नहीं पढ़ता उस व्यक्ति को समझ लेना चाहिए कि उसके जीवन का वह दिन निरर्थक ही गया। इसके अतिरिक्त आचार्य के अनुसार दिन को सार्थक करने का दूसरा उपाय दान करना है। जो व्यक्ति स्वाध्याय नहीं कर सकता, वह दान करके अपने दिन को सफल बना सकता है। जीवन के प्रत्येक दिन को सफल बनाने के लिए तीसरा साधन है परोपकार अथवा यज्ञ आदि सत्कर्मों का करना।

मानव-जीवन अमूल्य है। उसका एक-एक दिन बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इसलिए अपने प्रत्येक दिन को सफल बनाने के लिए स्वाध्याय, दान अथवा यज्ञ आदि सत्कर्म करने चाहिएं। बुद्धिमान् पुरुष यदि ये तीनों कार्य नहीं कर सकता तो किसी एक कर्म द्वारा अपने दिन को सफल बना सकता है। वैसे यह आवश्यक है कि व्यक्ति प्रतिदिन स्वाध्याय करे, दान दे और प्रतिदिन कोई न कोई सत्कर्म करने का अपने जीवन में नियम बनाये।

कान्तावियोगः स्वजनापमानो
ऋणस्य शेषं कुनृपस्य सेवा।
दरिद्रभावो विषमा सभा च
विनाग्निमेते प्रदहन्ति कायम्।।१४।।

संसार में कुछ दुःख ऐसे हैं जिन्हें मनुष्य अपने जीवन में सरलतापूर्वक न तो भुला पाता है और न उन्हें सहन कर सकता है। ये दुःख हैं—अपनी पत्नी से अलग होना, अपने परिवार वालों और सम्बन्धियों से अपमानित होना, कर्ज का न चुका पाना, दुष्ट स्वामी की नौकरी करना तथा दरिद्र बन कर मूर्खों के समाज में रहना।

वस्तुतः समाज में मनुष्य तभी सुखी रह सकता है जब उसे अपने जीवन में पत्नी का सहयोग मिले, अपने सम्बन्धियों व परिवार वालों से सम्मान मिले, उस

पर किसी प्रकार का कोई ऋण न हो, कोई देनदारी न हो। यदि वह नौकरी करता है तो उसका स्वामी भला पुरुष हो और वह स्वयं दरिद्र न हो, अर्थात् उसके पास अपने प्रतिदिन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यथेष्ट धन हो।

नदीतीरे च ये वृक्षाः परगेहेषु कामिनी।
मन्त्रिहीनाश्च राजानः शीघ्रं नश्यन्त्यसंशम्।।१५।।

तेज बहाव वाली नदी के किनारे के वृक्ष, दूसरे के घर में रहने वाली स्त्री तथा मन्त्री से रहित राजा शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं।

यह सब जानते हैं कि नदियां बरसात के दिनों में भयंकर बाढ़ का कारण बनती हैं। उस समय उनके किनारे के वृक्ष तो क्या, आस-पास की बस्तियाँ भी नष्ट हो जाती हैं। इसी प्रकार दूसरे के घर में रहने वाली स्त्री कब तक अपने सतीत्व की रक्षा कर सकती है! आचार्य चाणक्य का कहना है कि जिस राजा के पास मंत्री नहीं उसके नष्ट होने में देर नहीं लगती। इसका अर्थ स्पष्ट है कि स्त्री को दूसरों के घर में नहीं रहना चाहिए और राजा के लिए यह आवश्यक है कि वह सदैव अच्छे मंत्रियों की नियुक्ति करे। मंत्री-रहित राजा पर जब कोई संकट आता है तो उसे सत्य परामर्श देने वाले व्यक्ति के अभाव के कारण अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं। इसी प्रकार आश्रयहीन स्त्री के लिए भी दूसरे पुरुष द्वारा भोगे जाने का संकट बना ही रहता है।

बलं विद्या च विप्राणां राज्ञां सैन्यं बलं तथा।
बलं वित्तं च वैश्यानां शूद्राणां परिचर्यकम्।।१६।।

प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी बल के कारण ही जीवित रहता है। उसे किसी न किसी शक्ति की आवश्यकता होती है। ब्राह्मण की शक्ति उसकी विद्या है, राजा की शक्ति उसकी सेना है, वैश्य की शक्ति उसका धन है और शूद्र की शक्ति उसके द्वारा किया जाने वाला सेवाकार्य है।

विद्या से रहित ब्राह्मण, सैन्यबल से रहित राजा, धन से रहित व्यापारी (वैश्य) और सेवाकर्म से रहित शूद्र का कोई महत्त्व नहीं।

ब्राह्मण का कर्त्तव्य है कि वह विद्या ग्रहण करे; जहां-तहां से भी हो सके, श्रेष्ठ विद्याओं का संचय करे। राजा को चाहिए कि वह अपनी प्रजा और राज्य की रक्षा के लिए दृढ़ सेना बनाये। वैश्य अथवा व्यापारी का कर्त्तव्य है कि वह धन का संचय करे तथा शूद्र का कर्त्तव्य है कि वह मन से सेवाभाव को ग्रहण करे। इन्हीं कार्यों में इन चारों वर्णों की भलाई और शक्ति छिपी हुई है।

आज के युग में भी इन बातों को सार्थक कहा जा सकता है। भले ही चारों

वर्ण जन्म से न माने जाएं, तो भी विद्यादान देने वाले गुरुजनों को ब्राह्मण ही कहा जाएगा। उनका कर्त्तव्य है कि वे अनेक विद्याओं का संचय करें। भले ही आज राजाओं का युग नहीं, परन्तु राष्ट्र के नेताओं का यह कर्त्तव्य है कि वे राष्ट्र की आन्तरिक सुख-शान्ति एवं सीमाओं की रक्षा के लिए मजबूत सेना रखें। इसी प्रकार व्यापारियों और किसानों का कर्त्तव्य है कि वे धन-धान्य के संचय द्वारा देश को समृद्ध बनायें। शूद्रों अथवा नौकरीपेशा लोगों का कर्त्तव्य है कि वे सुचारु रूप से सेवा का कार्य करते हुए अपनी प्रतिष्ठा बढ़ायें।

निर्धनं पुरुषं वेश्या प्रजा भग्नं नृपं त्यजेत्।
खगाः वीतफलं वृक्षं भुक्त्वा चाऽभ्यागतो गृहम्।।१७।।

जिस प्रकार वेश्या अपने प्रेमी के निर्धन हो जाने पर उसे त्याग देती है, उससे मुंह मोड़ लेती है और पराजित व अपमानित राजा को प्रजा छोड़ देती है तथा जिस प्रकार सूखे हुए पेड़ को छोड़ कर पक्षी उड़ जाते हैं, उसी प्रकार अतिथि को चाहिए कि भोजन करने के बाद गृहस्थी के घर को त्याग दे।

चाणक्य ने कुछ उदाहरण देकर समझदारी से कर्त्तव्य-पालन पर बल दिया है। धन के कारण वेश्या जिसे अपना प्रेमी कहती है, निर्धन होने पर उससे मुंह मोड़ लेती है। इसी प्रकार अपमानित राजा को प्रजा त्याग देती है और सूखे ठूंठ वृक्ष से पक्षी उड़ जाते हैं। इसी प्रकार अतिथि को चाहिए कि वह भोजन करने के उपरान्त गृहस्थ का साधुवाद करके घर को त्याग दे। वहां डेरा डालने की न सोचे, नहीं तो ऐसा हो सकता है कि संकोच का त्याग करके उसे जाने के लिए कहना पड़े। उसे यह समझना चाहिए कि सम्मान की रक्षा इसी में है कि वह भोजन करने के पश्चात् स्वयं जाने के लिए आज्ञा मांग ले।

गृहीत्वा दक्षिणां विप्रास्त्यजन्ति यजमानकम्।
प्राप्तविद्या गुरुं शिष्याः दग्धारण्यं मृगास्तथा।।१८।।

जिस प्रकार दक्षिणा प्राप्त करने के बाद पुरोहित यजमान के घर से चला जाता है, जिस प्रकार विद्या समाप्त करने के बाद शिष्य अपने गुरु से विदाई ले लेता है, उसी प्रकार वन के जल जाने पर उस जंगल को छोड़ कर पक्षी-पशु किसी दूसरे जंगल की राह लेते हैं।

आचार्य चाणक्य के कहने का अभिप्राय यह है कि यदि कोई व्यक्ति किसी विशेष उद्देश्य से किसी के पास जाता है अथवा उसका सहारा लेता है तो उसे उद्देश्य के पूरा होते ही वहां से चल देना चाहिए। यजमान का कोई कार्य करने के बाद पुरोहित उससे दक्षिणा लेकर विदाई ले लेते हैं, विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करके

अपने घर लौटते हैं और किसी वन में दावानल आदि की वजह से नष्ट हो जाने पर भोजन आदि की सुविधा समाप्त हो जाने पर जंगली जानवर भी उस वन को छोड़कर दूसरी जगह चले जाते हैं।

दुराचारी च दुर्दृष्टिर्दुराऽऽवासी च दुर्जनः।
यन्मैत्री क्रियते पुम्भिर्नरः शीघ्रं विनश्यति।।१९।।

दुराचारी, दुष्ट स्वभाव वाला, बिना किसी कारण के दूसरों को हानि पहुंचाने वाला तथा दुष्ट व्यक्ति से मित्रता रखने वाला श्रेष्ठ पुरुष भी शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।

यह उक्ति प्रसिद्ध है कि खरबूजे को देखकर खरबूजा रंग बदलता है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति दुष्ट व्यक्तियों के साथ रहता है तो उनकी संगति का प्रभाव उस पर अवश्य पड़ेगा। दुर्जनों के संग में रहने वाला व्यक्ति अवश्य दुःखी होगा। इसी बात को ध्यान में रखकर तुलसीदास जी ने भी कहा है—"दुर्जन संग न देह विधाता, इससे भलो नरक का वासा"।

समाने शोभते प्रीतिः राज्ञि सेवा च शोभते।
वाणिज्यं व्यवहारेषु दिव्या स्त्री शोभते गृहे।।२०।।

समान गुण, कर्म, स्वभाव और आर्थिक स्थिति वाले व्यक्ति से ही प्रेम-सम्बन्ध ठीक रहता है। इसी प्रकार सेवा अथवा नौकरी आदि करनी हो तो सरकारी नौकरी ही करनी चाहिए। लोक-व्यवहार में निपुण व्यक्ति ही समाज में श्रद्धा प्राप्त करता है। इसी प्रकार रूपवती स्त्री की शोभा अपने घर में ही होती है।

यह प्रायः सभी जानते हैं कि आपसी सम्बन्ध व प्रेम-व्यवहार अपने जैसी स्थिति वालों से ही करना चाहिए। सेवा अथवा नौकरी आदि करनी हो तो सरकारी ही उचित है, क्योंकि उसमें जो निश्चिन्तता है, वह प्राइवेट नौकरी में नहीं हो सकती। व्यापार में सफलता के लिए भी आवश्यक है कि व्यक्ति व्यवहार-कुशल हो। इसी प्रकार सुन्दर स्त्री का भी इधर-उधर न भटक कर अपने घर में ही रहना श्रेयस्कर होता है।

तृतीय अध्याय

कस्य दोषः कुले नास्ति व्याधिना को न पीडितः।
व्यसनं केन न प्राप्तं कस्य सौख्यं निरन्तरम्।।१।।

संसार में ऐसा कौन व्यक्ति है जिसके वंश में कोई न कोई दोष, या अवगुण न हो। कहीं न कहीं कोई दोष निकल ही आता है। संसार में कोई ऐसा प्राणी भी नहीं है जो कभी न कभी, किसी न किसी रोग से पीड़ित न हुआ हो, अर्थात् रोग कभी न कभी सभी मनुष्यों को घेर ही लेता है। संसार में ऐसा कौन व्यक्ति है जिसे कोई न कोई व्यसन न हो अथवा वह संकट में न पड़ा हो। संसार में किसी को लगातार सुख भी नहीं मिलता, कभी न कभी कोई संकट अथवा कष्ट आ ही जाता है।

आचार्य चाणक्य ने यह बात बिल्कुल ठीक ही कही है कि प्रत्येक कुल में कोई न कोई दोष अवश्य उत्पन्न हो जाता है और सभी व्यक्ति किसी न किसी प्रकार के रोग से पीड़ित हो जाते हैं। सभी मनुष्यों में कोई न कोई लत अथवा आदत होती है जो थोड़ा-बहुत हानि पहुंचा सकती है। संसार में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं जिसे जीवन में कभी भी संकटों का सामना न करना पड़ा हो। आर्थिक संकट, व्याधि संकट, खाद्यान्न संकट आदि आते ही रहते हैं; और कुछ न भी हो तो अनेक बार प्राकृतिक संकटों का सामना ही करना पड़ जाता है।

आचारः कुलमाख्याति देशमाख्याति भाषणम्।
सम्भ्रमः स्नेहमाख्याति वपुराख्याति भोजनम्।।२।।

व्यक्ति के आचरण-व्यवहार से उसके कुल का पता चलता है, भाषण अर्थात् बातचीत से उसके स्थानविशेष का पता चलता है कि वह कहां का रहने वाला है तथा उसके मन के भावों से यह ज्ञात होता है कि कितना प्रेमभाव रखता है और उसके शरीर को देखकर उसके भोजन की मात्रा का अनुमान लगाया जा सकता है।

समय के अनुरूप बातें बदलती रहती हैं, परन्तु कुछ बातें ऐसी भी होती हैं जो जीवन-भर मनुष्य के साथ चलती हैं, वरन् अनेक पीढ़ियों तक साथ चलती हैं। उच्च वंश का व्यक्ति शालीन होगा तथा शान्त और अच्छे स्वभाव का होगा, जबकि नीच वंश का आदमी उद्धत, बातूनी और मान-मर्यादा का खयाल न रखने वाला होगा। इस बात से तो प्रायः सभी परिचित हैं कि व्यक्ति अपनी बोली और उच्चारण से पहचाना जाता है कि वह किस प्रदेश का रहने वाला है। यों तो बोली हर दस-पन्द्रह किलोमीटर पर थोड़ा बदल जाती है, परन्तु काफी बड़े क्षेत्र में मुख्य स्वर (लहजा) एक ही रहता है, बोलचाल की मूल भाषा एक जैसी रहती है। इसलिए यह पहचानने में दिक्कत नहीं होती कि व्यक्ति कहां का रहने वाला है। इसी प्रकार व्यक्ति के हाव-भाव और क्रियाओं से उसके मन के विचारों का पता चल जाता है कि उसका स्नेह वास्तविक है या बनावटी, क्योंकि मन की भावनाओं के अनुरूप ही व्यक्ति कार्य करता है। मन की भावनाओं की झलक उसके कार्यों में अवश्य मिलती है। व्यवहार से यह भी प्रकट हो जाता है कि उसका स्नेह दिखावटी है या असली। अधिक देर तक कोई भी व्यक्ति अपनी भावनाओं को छिपाये नहीं रख सकता। आचार्य चाणक्य की यह बात भी ठीक ही है कि व्यक्ति की देह से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वह कितना खाता होगा। परन्तु कई मामलों में यह भी देखा गया है कि दुबला-पतला आदमी भी बहुत-सी रोटियां खा जाता है, परन्तु चाणक्य ने यहां सामान्यतया लागू होने वाली बातें ही कही हैं।

सुकुले योजयेत्कन्यां पुत्रं विद्यासु योजयेत्।
व्यसने योजयेच्छत्रुं मित्रं धर्मे नियोजयेत्।।३।।

बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिए कि वह अपनी पुत्री का विवाह-सम्बन्ध अच्छे परिवार में ही करे। उसे चाहिए कि वह अपनी सन्तान को अच्छी शिक्षा दे तथा उसे खूब पढ़ाये-लिखाये। चाणक्य ने यहां गूढ़नीति की बात कही है कि व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने शत्रु को कोई ऐसी लत लगा दे जिससे उसका पिण्ड छूटना कठिन हो जाय। इसी प्रकार यह भी प्रयत्न करना चाहिए कि उसका मित्र धर्माचरण करता रहे और धर्माचरण में आने वाले कष्ट भी उसे धैर्य से विमुख न होने दें।

दुर्जनस्य च सर्पस्य वरं सर्पो न दुर्जनः।
सर्पो दंशति कालेन दुर्जनस्तु पदे पदे।।४।।

आचार्य चाणक्य का कहना है कि बुरे व्यक्ति और सांप में मुकाबला किया जाये या दोनों में से किसी एक को चुनना पड़े तो सांप को चुनना चाहिए। दुर्जन

और सांप में से यदि किसी एक के साथ रहने का चुनाव करना पड़े तो आचार्य चाणक्य के विचार में सांप के साथ रहना अच्छा है, दुर्जन का संग अच्छा नहीं। वे कहते हैं कि सांप तो तभी काटेगा जब मृत्युकाल आना होगा अथवा मनुष्य असावधान होगा। उससे पहले तो वह कभी काट नहीं पायेगा। परन्तु दुर्जन द्वारा पहुंचाई गई पीड़ा सर्पदंश से भी अधिक व्यथाकारक होती है, अतः सर्प से अधिक भयंकर होने के कारण दुर्जन सर्वथा छोड़ने योग्य है। उससे तो हमेशा खतरा रहता है।

बात यह है कि सांप तभी काटता है जब उस पर पांव पड़ जाए या वह किसी कारण भयभीत हो जाए, पर दुर्जन तो बिना कारण ही व्यथा पहुंचाने का यत्न करता रहता है।

एतदर्थं कुलीनानां नृपाः कुर्वन्ति संग्रहम्।
आदिमध्याऽवसानेषु न त्यजन्ति च ते नृपम्।।५।।

राजा लोग और राजपुरुष महत्त्वपूर्ण एवं विशिष्ट राजकीय सेवाओं में कुलीन पुरुषों की नियुक्ति को इसीलिए प्राथमिकता देते हैं, क्योंकि वे अपने उच्च संस्कारों तथा परम्परागत शिक्षा-दीक्षा के कारण राजा का संग कभी नहीं छोड़ते। वे उसकी उन्नति, सामान्य अवस्था और कठिनाई के समय में भी उसका साथ देते हैं। वे हर अवस्था में समान भाव के साथ निभाते हैं। वे न कभी अपने स्वामियों को छोड़ते हैं और न ही उन्हें धोखा देते हैं। जहां अन्य व्यक्ति राजा की उन्नति के दिनों में उसके आगे-पीछे घूमते हैं, परन्तु बुरा समय आने पर दिखाई तक नहीं देते, वहां उच्च कुल वालों का व्यवहार प्रत्येक स्थिति में एक-जैसा रहता है। अतः राजा या नेता को चाहिए कि वह अतिविशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण सेवाओं में केवल कुलीन पुरुषों को ही नियुक्त करे, नीच अथवा ओछे लोगों को नहीं।

प्रलये भिन्नमर्यादा भवन्ति किल सागराः।
सागरा भेदमिच्छन्ति प्रलयेऽपि न साधवः।।६।।

आचार्य ने सागर की तुलना में धीर-गम्भीर पुरुष को श्रेष्ठतर माना है। वे कहते हैं कि जिस सागर को लोग इतना गम्भीर समझते हैं, प्रलय आने पर वह भी अपनी मर्यादा भूल जाता है और किनारों को तोड़ कर जल-थल एक कर देता है; परन्तु साधु अथवा श्रेष्ठ व्यक्ति संकटों का पहाड़ टूटने पर भी श्रेष्ठ मर्यादाओं का उल्लंघन नहीं करता। अतः साधु पुरुष सागर से भी महान् होता है। यूं तो मर्यादापालन के लिए सागर आदर्श माना जाता है, वर्षा में उफनती नदियों को अपने में समेटता हुआ भी सागर अपनी सीमा नहीं तोड़ता, परन्तु

प्रलय आने पर उसी सागर का जल तटबन्धों को तोड़ता हुआ सारी धरती को ही जलमय कर देता है। इस प्रकार सागर प्रलयकाल में अपनी मर्यादा को सुरक्षित नहीं रख पाता; परन्तु इसके विपरीत साधु पुरुष प्राणों का संकट उपस्थित होने पर भी अपने चरित्र की उदात्तता का परित्याग नहीं करते। वे प्रत्येक अवस्था में अपनी मर्यादा की रक्षा करते हैं। इसीलिए सन्त पुरुष समुद्र से भी अधिक गम्भीर माने जाते हैं।

मूर्खस्तु परिहर्त्तव्यः प्रत्यक्षो द्विपदः पशुः।
भिद्यते वाक्यशल्येन अदृष्टः कण्टकं यथा।।७।।

मनुष्य के समान दो पैर वाला होने पर भी मूर्ख व्यक्ति पशु के समान ही होता है, क्योंकि जिस प्रकार पशु बुद्धिहीन होता है, उसे उचित-अनुचित का ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार मूर्ख को भी करने-कहने योग्य और न करने-कहने योग्य का कुछ भी ज्ञान नहीं होता। अतः मूर्ख का संग कभी नहीं करना चाहिए। जिस प्रकार पैर के भीतर धंसा कांटा दिखाई न देने पर भी भीतर ही भीतर पीड़ा पहुंचाता है, उसी प्रकार मूर्ख व्यक्ति अपनी गन्दी वाणी, गाली-गलौच से लोगों को दुःखी और परेशान करता रहता है। अर्थात् उसकी बातें सज्जन लोगों को शूल के समान चुभती रहती हैं, मानो वह नश्तर से काटने का यत्न कर रहा हो। इसलिए मूर्ख का परित्याग करना ही अच्छा है।

रूप - यौवन - सम्पन्नाः विशालकुलसम्भवाः।
विद्याहीनाः न शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुकाः।।८।।

लाल रंग के किंशुक पुष्प दीखने में तो बड़े सुन्दर लगते हैं, परन्तु उनमें सुगन्ध नहीं होती, अतः कोई भी उनकी ओर विशेष ध्यान नहीं देता। जिस प्रकार गंधरहित होने से किंशुक के पुष्प उपेक्षित ही रहते हैं, लोगों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर पाते तथा देवों-सम्राटों के सिर पर चढ़ने का गौरव प्राप्त नहीं कर पाते; उसी प्रकार ऊंचे कुल में उत्पन्न विद्या से रहित रूपवान् युवक भी समाज में आदर प्राप्त नहीं कर पाते। विद्या के अभाव में उनका ऊंचा वंश, उनका रूप-सौन्दर्य तथा उनका यौवन और शक्तिसम्पन्न होना आदि सब बातें व्यर्थ हो जाती हैं।

आचार्य चाणक्य के कहने का अभिप्राय है कि उच्च वंश, सुन्दर रूप, बल, शक्ति और यौवन की शोभा विद्या से ही होती है। विद्या के अभाव में ये सब गुण गन्धरहित किंशुक के पुष्पों के समान निरर्थक हो जाते हैं। ऐसे व्यक्ति का न तो कोई उपयोग है और न कहीं आदर।

कोकिलानां स्वरो रूपं स्त्रीणां रूपं पतिव्रतम्।
विद्या रूपं कुरूपाणां क्षमा रूपं तपस्विनाम्।।९।।

कोयल की मीठी वाणी अर्थात् उसका कर्णप्रिय स्वर ही उसका रूप है। कोयल भी कौए के समान काली और कुरूप होती है, परन्तु उसका स्वर लोगों के कानों को इतना मधुर और प्रिय लगता है कि वे उसके कुरूप होने की उपेक्षा करके, उसकी भद्दी शक्ल का ध्यान न देकर उससे स्नेह करने लगते हैं। इसी प्रकार स्त्रियों का सच्चा सौन्दर्य उनका पतिव्रता होना है। यदि रूपवती युवती चरित्रहीन है तो उसके रूप-सौन्दर्य का कोई लाभ नहीं। वह सुन्दरी होने पर भी समाज की दृष्टि में पतिता मानी जाती है। इसके विपरीत रूप-सौन्दर्य की दृष्टि से साधारण होने पर भी पतिव्रता स्त्री अपनी स्वामिभक्ति से अपने पति की चहेती बन जाती है। विद्या रूपहीनों का भी रूप है। यदि कोई विद्वान्, गुणी, कलाकार, कुरूप हो तो भी उसकी विद्या, कला और उसके गुण के कारण लोग न केवल उसका आदर करते हैं अपितु उससे गुण ग्रहण करने के लिए उसके शिष्य भी बनने को उद्यत हो जाते हैं। इसी प्रकार तपस्वी पुरुषों की सच्ची शोभा क्षमा से होती है। क्षमा ही उनका रूप-सौन्दर्य है। यदि तपस्वी महात्मा किसी की उद्दण्डता पर क्रोध करता है, तो उसकी महत्ता नष्ट हो जाती है।

इस प्रकार मधुर स्वर कोयल का, पतिव्रत-धर्म स्त्री का, विद्या कुरूप व्यक्ति का और क्षमा तपस्वी का शृंगार है।

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्।।१०।।

यदि परिवार के किसी एक व्यक्ति के बलिदान अथवा परित्याग से कुल की रक्षा होती है तो उसके परित्याग में संकोच नहीं करना चाहिए, क्योंकि एक से अनेक का महत्त्व अधिक है। यदि पूरे परिवार के त्याग-बलिदान से गांव की रक्षा होती हो तो कुल के बलिदान में सोच-विचार नहीं करना चाहिए। यदि जनपद (जिला अथवा प्रदेश) को बचाने के लिए किसी एक गांव को बलिदान करना पड़े तो अविलम्ब बलिदान कर देना चाहिए। इस सब के बावजूद आचार्य चाणक्य का कहना है कि यदि अपने बचाव के लिएं—परिवार के एक व्यक्ति की नहीं, पूरे परिवार की नहीं, गांव की नहीं, प्रदेश की ही नहीं अपितु पूरे संसार की भी बलि देनी पड़े तो निस्संकोच दे देनी चाहिए, क्योंकि अपने से बढ़कर कुछ नहीं। यदि व्यक्ति स्वयं बच जायेगा तो परिवार, गांव और प्रदेश भी बचेगा, परन्तु यदि स्वयं न बचा तो इन सबका क्या महत्त्व? 'आप मरे जग प्रलय', अपने-आप मरने का अर्थ ही जग का प्रलय है, अतः प्रत्येक उपाय से अपनी रक्षा

करना आवश्यक है।

हो सकता है कि आपको आचार्य की इस बात में कुछ स्वार्थ की गन्ध आती हो, परन्तु ऐसा नहीं है। यहां उनका भाव केवल व्यक्ति की श्रेष्ठता सिद्ध करना अथवा बताना है।

उद्योगे नास्ति दारिद्र्यं जपतो नास्ति पातकम्।
मौने च कलहो नास्ति, नास्ति जागरिते भयम्।।११।।

निर्धनता अथवा गरीबी हटाने का अचूक उपाय है, निरन्तर परिश्रम। परिश्रमी व्यक्ति कभी निर्धन नहीं रह सकता। उद्यम करने वाले को ही प्रारब्ध में लिखा धन मिलता है। सोते सिंह के मुख में पशु अपने-आप नहीं चले जाते। परिश्रम के बिना तो सिंह को भी भूखा मरना पड़ता है। भले ही सिंह जंगल का राजा होता है, परन्तु उसे भी अपना पेट भरने के लिए हाथ-पांव चलाने पड़ते हैं।

प्रभु के नाम का जप करने वाले व्यक्ति के सभी पाप नष्ट हो जाते हैं। शास्त्रों में पापों के प्रायश्चित्त के रूप में जप का ही विधान है। जो व्यक्ति निरन्तर प्रभु का स्मरण करता रहता है, उसके पाप स्वतः नष्ट हो जाते हैं।

झगड़े की जड़ है—उत्तर का प्रत्युत्तर अथवा ईंट का जवाब पत्थर से देना, अर्थात् एक के द्वारा दी गई गाली के बदले में दो गालियां देना। इसमें झगड़े का बढ़ना, मारपीट होना निश्चित है। इस झगड़े को मिटाने का उपाय है—मौन रहना। यदि किसी की गाली का उत्तर नहीं दिया जायेगा तो उसका क्रोध अपने-आप शान्त हो जाएगा। इसीलिए चुप्पी को बहुत बड़ा सुख और वरदान माना गया है।

सावधान तथा जागरूक रहने वाले व्यक्ति को किसी प्रकार के भय की आशंका नहीं रहती। प्रायः रोग, शत्रु तथा चोर-डाकू आदि असावधान, गफलत में पड़े या सोये हुए व्यक्ति पर ही आघात करते हैं, जागते को देखकर सभी भाग खड़े होते हैं। अतः व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि चौकन्ना रहे, कभी गफलत में न पड़े।

सार यह है कि उद्योग अथवा परिश्रम समृद्धि का, जप पापनाश का, मौन शान्ति का तथा सावधानी भय भगाने का निश्चित साधन है। आज के वैज्ञानिक युग में भी सैकड़ों वर्ष पूर्व कही गई आचार्य चाणक्य की ये बातें सही हैं।

अतिरूपेण वै सीता अतिगर्वेण रावणः।
अतिदानाद् बलिर्बद्धो ह्यति सर्वत्र वर्जयेत्।।१२।।

संसार में प्रत्येक कार्य, प्रत्येक गुण, प्रत्येक बात की एक सीमा होती है। प्रत्येक अच्छी-बुरी वस्तु अपनी सीमा में ही शोभा देती है। जहां सीमा का अतिक्रमण हो जाता है, बात किसी अति अथवा ज्यादती को पहुंचने लगती है, वहां अति करने वाले को दुर्गति का शिकार होना पड़ता है। इसलिए आचार्य महोदय का कहना है कि 'अति' का तो सभी स्थानों पर ही परित्याग करना चाहिए।

'अति' से हुई हानियों का इतिहास से विवरण प्रस्तुत करते हुए आचार्य का कथन है—सीता अत्यधिक सुन्दर थी, उसके अद्‌भुत लावण्य के कारण ही रावण उसके हरण के मोह का संवरण न कर सका। सीता इतनी सुन्दर न होती तो शायद रावण उसे पाने के लिए इतना उत्सुक न होता। इसी प्रकार रावण को उसकी पत्नी ने, उसके भाई ने तथा मन्त्रियों ने बार-बार समझाया, हनुमान् तथा अंगद के पराक्रम को उसने अपनी आंखों से देखा, समुद्र पर पुल बंधने की सुनकर वह चकित भी हुआ, परन्तु अपने गर्व की अति के कारण अपने हठ को नहीं छोड़ पाया और इसी के फलस्वरूप वह कुल-सहित मारा गया।

प्रह्लाद का पुत्र बलि बहुत बड़ा दानी था और साथ ही अपने पराक्रम से देवों को आतंकित करता रहता था। विष्णु भगवान् ने देवों की रक्षा के लिए वामन-रूप धारण करके उससे तीन पग धरती दान में मांगी। बलि के गुरु शुक्राचार्य ने बलि को सावधान भी किया कि उसके साथ छल हो रहा है, अतः वह वामन को कुछ भी दान न दे, परन्तु बलि नहीं माना। वह अपनी दानशीलता की अति के कारण वामन के विराट् बनते ही बन्धन में पड़ गया।

यदि सीता अतिसुन्दर न होती तो हो सकता है उसका हरण न होता। रावण अतिगर्व न करता तो उसका विनाश न होता और यदि बलि अतिदान की प्रवृत्ति पर न डटा रहता तो वह बन्धन में न पड़ता। इन उदाहरणों से आचार्य चाणक्य का यही कहना है कि मनुष्य को कहीं भी 'अति' नहीं करनी चाहिए। सब-कुछ एक सीमा के भीतर ही करना चाहिए। सीमा का अतिक्रमण करने से सब स्थानों पर हानि होती है। हर काम सीमा में ही शोभा देता है।

को हि भारः समर्थानां किं दूरं व्यवसायिनाम्।
को विदेशः सविद्यानां कः परः प्रियवादिनाम्।।१३।।

समर्थ एवं शक्तिशाली पुरुषों के लिए कुछ भी कर सकना कठिन नहीं। वे जो चाहते हैं, उसे कर गुजरते हैं। व्यवसायी लोगों के लिए दूरी कुछ अर्थ नहीं रखती। परिश्रमी व्यापारियों के लिए तो रूस, अमेरिका, इंगलैण्ड प्रभृति देश भी इतने समीप हैं, जितने कि उनके घर से उनके व्यापार-केन्द्र। यदि व्यवसायी दूर

का विचार करने लगे तो कारोबार कहां से होगा? इसी प्रकार विद्वानों के लिए भी कोई स्थान विदेश नहीं। वे जहां भी जायेंगे अपनी विद्या की शक्ति से वहां अपने मित्र एवं भक्त बना लेंगे, आजीविका पैदा कर लेंगे। उन्हें सभी स्थानों पर अपने घर जैसा सुख और वातावरण मिल जाएगा। इसी प्रकार प्रिय और मधुर बोलने वाले का कभी कोई शत्रु नहीं होता। प्रियभाषी अपनी वाणी के माधुर्य से सभी को अपना मित्र बना लेते हैं।

आचार्य चाणक्य के अनुसार शक्ति कार्यसिद्धि का, व्यवसाय दूर-समीप के अन्तर को मिटाने का, विद्या देश-विदेश को एक रूप देने का तथा प्रिय भाषण शत्रुता मिटाने का अचूक साधन है। व्यक्ति इनके अनुसार उन्नति और लोकप्रियता के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है।

एकेनाऽपि सुवृक्षेण पुष्पितेन सुगन्धिना।
वासितं तद्वनं सर्वं सुपुत्रेण कुलं यथा।।१४।।

जिस प्रकार एक ही अच्छा वृक्ष अपने पुष्पों की सुगन्ध से सारे वन को सुशोभित और सुगन्धित बना देता है, उसी प्रकार एक ही गुणी पुत्र अपने उज्ज्वल गुणों से अपने सारे कुल को लोकप्रिय और प्रसिद्ध बना देता है।

कोई भी वंश गुणी पुत्र से ही ऊंचा उठता है। इसलिए अनेक गुणहीन पुत्रों की अपेक्षा एक गुणवान् पुत्र का होना ही अच्छा है। यह बिल्कुल वैसा ही है कि यदि व्यक्ति में एक भी अच्छी बात या गुण हो तो बहुत-सी बुरी बातें अथवा दुर्गुण छिप जाते हैं। इसी प्रकार यदि किसी कुल में एक श्रेष्ठ पुत्र पैदा हो जाये तो उस कुल का बेड़ा पार हो जाता है। आज के परिवार-नियोजन के सन्दर्भ में अनेक बच्चों की बजाय एक ही अच्छे बच्चे का होना अधिक सुखकर है।

एकेन शुष्कवृक्षेण दह्यमानेन वह्निना।
दह्यते तद्वनं सर्वं कुपुत्रेण कुलं यथा।।१५।।

जिस प्रकार जलता हुआ एक ही सूखा पेड़ सारे वन को जला कर राख कर देता है, उसी प्रकार एक ही कुपुत्र से सारा वंश कलंकित हो जाता है। जिस प्रकार एक छोटी-सी चिंगारी महान् विनाश का कारण बन जाती है, उसी प्रकार एक कुपुत्र, एक बुरी सन्तान सारे परिवार के दुःख का कारण तो बनती ही है, साथ ही उस कुल की मान-मर्यादाओं को भी नष्ट कर देती है। इसी प्रकार एक ही दुर्गुण से विद्वान् व्यक्ति भी अपना सम्मान खो बैठता है। सद्गृहस्थ को चाहिए कि सन्तान को मर्यादा में रखे और उनमें सद्गुण उत्पन्न करे।

एकेनाऽपि सुपुत्रेण विद्यायुक्तेन साधुना।

आह्लादितं कुलं सर्वं यथा चन्द्रेण शर्वरी।।१६।।

जिस प्रकार एक अकेला चांद अंधेरी रात को जगमगा देता है, अंधेरा दूर कर देता है और उसे खुशनुमा बना देता है उसी प्रकार विद्वान्, चरित्रवान् और अच्छे स्वभाव का एक पुत्र सारे वंश का नाम रौशन कर देता है और परिवार के सदस्यों को आनन्दित कर देता है, क्योंकि उसके कारण वे अपने वंश पर गर्व और गौरव अनुभव करने लगते हैं। अंधियारी रात किसी को नहीं सुहाती, इसी प्रकार कुपुत्र भी कुल को नहीं सुहाता।

किं जातैर्बहुभिः पुत्रैः शोकसन्तापकारकैः।
वरमेकः कुलाऽऽलम्बी यत्र विश्राम्यते कुलम्।।१७।।

आचार्य कौटिल्य के अनुसार अपने आचरणों से शोक और सन्ताप उत्पन्न करने वाले बहुत से पुत्रों की अपेक्षा तो कुल को ऊंचा उठाने वाला और कुल के सदस्यों को सुख देने वाला एक पुत्र ही अच्छा है।

आचार्य ने यहां गुणवत्ता और किसी वस्तु का अधिक मात्रा में होने का मुकाबला किया है। जिस प्रकार सामान्य जीवन में अनेक भद्दी और बेढंगी वस्तुओं की अपेक्षा दो चार अच्छी वस्तुएं श्रेष्ठ मानी जाती हैं, उसी प्रकार अनेक दुष्ट पुत्रों की बजाय एक ही अच्छा पुत्र होना श्रेष्ठ है। उदाहरण स्पष्ट है कि धृतराष्ट्र के सौ पुत्रों में से एक भी अच्छा होता तो संभवतः कुछ बचाव हो जाता। सब जानते हैं, वे सभी मारे गये।

लालयेत् पंच वर्षाणि दश वर्षाणि ताडयेत्।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्।।१८।।

अपनी सन्तान के प्रति पिता का कर्त्तव्य है कि अपने बच्चे को पांच वर्ष की आयु तक लाड-प्यार से रखे। छः से पन्द्रह वर्ष की अवस्था तक अर्थात् अगले दस वर्ष बच्चे को लाड-प्यार न करके उसकी ताड़ना करे, क्योंकि यही अवस्था पढ़ने-लिखने की, सीखने और चरित्र-निर्माण की तथा अच्छी प्रवृत्तियों को अपनाने की होती है। यह वह समय होता है जब भावी जीवन की नींव रखी जाती है, अतः इस अवधि में पिता बच्चे को लाड-प्यार न देकर उसे इस प्रकार प्रेरित करे जिससे कि वह अपना कर्त्तव्य भली प्रकार समझ सके। बच्चे के सोलहवें वर्ष में आते ही पिता मित्र-जैसा व्यवहार करे। उसे अच्छे-बुरे की पहचान कराये और सन्मार्ग पर चलने का दायित्व उसी पर छोड़ दे। इस प्रकार इस अवस्था में आने पर पिता को चाहिए कि वह पुत्र को मित्र के समान केवल परामर्श दे, उसे समझाये, उससे झगड़ा आदि न करे और न उसपर हाथ ही उठाये। इस आयु में बच्चा बच्चा नहीं रहता, वह समझदार हो जाता है। अतः कठोरता बरतने पर

वह पिता का विरोध भी कर सकता है, विद्रोही भी हो सकता है, घर छोड़ कर भी जा सकता है। ऐसे अनेक उदाहरण प्रायः देखने में आते हैं। पिता को सन्तान की भावनाओं को समझना चाहिए; अपने हठ से किसी विकल्प को पैदा करने का यत्न नहीं करना चाहिए। कहावत है कि जब बेटा बाप के कन्धे तक आ जाये तो उसे अपना मित्र व सहायक मानना चाहिए।

उपसर्गेऽन्यचक्रे च दुर्भिक्षे च भयावहे।
असाधुजनसम्पर्के पलायति सः जीवति।।१९।।

देश में भयानक उपद्रव—आग लगने, उल्कापात होने, आतंकवादियों द्वारा सामूहिक हत्या करने, भूकम्प तथा अतिवृष्टि आदि होने पर, अराजकता और गृहयुद्ध होने पर, भयंकर अकाल पड़ने पर तथा दुष्टों की कुसंगतियों से जो दूर निकल जाता है, वही जीवित रह पाता है। अन्यथा इन चारों विपत्तियों—दैवी उत्पात, शत्रु का आक्रमण, दुर्भिक्ष तथा कुसंगतियों में पड़ा रहने वाला अपने विनाश को ही न्यौता देता है।

इस प्रकार आचार्य महोदय का परामर्श है कि उक्त चारों स्थितियों में नागरिकों को कहीं अन्यत्र सुरक्षित स्थान में ही शरण लेनी चाहिए, नहीं तो प्राणरक्षा सम्भव नहीं होती। इन स्थितियों में व्यक्ति को हठधर्मी से काम नहीं लेना चाहिए।

धर्मार्थकाममोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते।
जन्म-जन्मनि मर्त्येषु मरणं तस्य केवलम्।।२०।।

मनुष्य-जन्म लेकर जो प्राणी—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से किसी एक की भी प्राप्ति के लिए प्रयत्न नहीं करता, वह तो इस संसार में केवल मरने के लिए ही उत्पन्न होता है और उत्पन्न होने के लिए मरता है, अर्थात् इस मृत्युलोक में उसका जन्म सर्वथा ही निरर्थक है अर्थात् वह मरे हुए के समान ही होता है।

कहने का अभिप्राय यह है कि मनुष्य की सार्थकता धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से कम से कम किसी एक की प्राप्ति में है। चारों न सही, तीन न सही, दो न सही, यदि वह एक उद्देश्य को भी प्राप्त नहीं करता तो उसका इस संसार में बार-बार जन्म लेना निरर्थक ही है।

मनुष्य-जन्म बहुत दुर्लभ है, इसे व्यर्थ गंवाना उचित नहीं। व्यक्ति को चाहिए कि वह अच्छे गुणों का संग्रह करे, पुण्य कार्य करे और जीवन को सफल बनाये।

मूर्खा यत्र न पूज्यन्ते धान्यं यत्र सुसञ्चितम्।
दाम्पत्ये कलहो नास्ति तत्र श्रीः स्वयमागता।।२१।।

जिस देश में मूर्खों का आदर-सम्मान नहीं होता अर्थात् जहां मूर्ख व्यक्तियों को प्रधानता नहीं दी जाती, अन्न संचित और सुरक्षित रहता है तथा जहां पति-पत्नी में कभी झगड़ा नहीं होता, वहां लक्ष्मी बिना बुलाये ही निवास करती है, उन्हें किसी प्रकार की कमी नहीं रहती।

कहने का तात्पर्य यह है कि यदि देश की समृद्धि और देशवासियों की सन्तुष्टि अभीष्ट है तो मूर्खों के स्थान पर गुणवान् व्यक्तियों को आदर देना चाहिए। बुरे दिनों के लिए अन्न का भण्डारण करना चाहिए तथा घर-गृहस्थ में वाद-विवाद का वातावरण नहीं बनने देना चाहिए। जब विद्वानों का आदर और मूर्खों का तिरस्कार होगा, अन्न की प्रचुरता होगी तथा पति-पत्नी में सद्भाव होगा तो गृहस्थों के घरों अथवा देश में सम्पत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाएगी—इसमें सन्देह नहीं हो सकता।

चतुर्थ अध्याय

आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च।
पंचैतानि हि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः।।१।।

आचार्य चाणक्य का विश्वास है कि मानव के जीवन में सभी बातें पूर्व-निर्धारित होती हैं अर्थात् जब जीव मां के गर्भ में आता है तो उसी समय अर्थात् उसके जन्म लेने से पूर्व ही उस प्राणी की पांच बातें—कितने समय तक उसने इस धरती पर जीना है, उसकी मृत्यु का स्थान, समय और प्रकार, उसके कर्मों के मिलने वाले अच्छे-बुरे फल अर्थात् सुख-दुःख, हानि-लाभ, यश-अपयश आदि, उसके भाग्य का धन तथा उसे प्राप्त होने वाली विद्या—भगवान् पहले से ही लिख देते हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि जीवन-अवधि, सुख-दुःख धन, विद्या और मृत्यु की घड़ी व स्थान आदि ईश्वर के अधीन हैं, मनुष्य के नहीं। ईश्वर ये पांचों बातें मनुष्य के जन्म लेने से पूर्व ही निश्चित कर देते हैं, अतः इन पांचों के विषय में न तो मनुष्य को चिन्ता करनी चाहिए और न भटकना चाहिए। परन्तु आचार्य चाणक्य का यह कहना नहीं है कि व्यक्ति को पुरुषार्थ नहीं करना चाहिए। व्यक्ति को सब-कुछ भाग्य के भरोसे ही नहीं छोड़ देना चाहिए। उसे सदैव 'कर्मण्येवाधिकारेस्तु' का ध्यान रख कर कर्म करते रहना चाहिए।

साधुभ्यस्ते निवर्तन्ते पुत्रामित्राणि बान्धवाः।
ये च तैः सह गन्तारस्तद्धर्मात् सुकृतं कुलम्।।२।।

जब परिवार का कोई व्यक्ति साधु बन जाता है, संसार के माया-मोह को छोड़कर वैराग्य को अपना लेता है, तो उस समय उसे उसके बन्धु-बान्धव, स्त्री-पुरुष और मित्र आदि सभी कुछ दूर तक उसके साथ जाकर उसे विदा करके लौट आते हैं। इस प्रकार अपने परिवार के एक प्रबुद्ध सदस्य को माया-मोह से विरक्त देखकर भी वे पुनः अपने घर आकर माया-मोह में फंस

जाते हैं। आचार्य चाणक्य का कथन है कि परिवार के जो लोग उस त्यागी पुरुष के समान आचरण करते हैं, वे इस सदाचरण से अपने पूरे परिवार को उज्ज्वल बना देते हैं। उनके इस कार्य पर परिवार को गर्व करना चाहिए। उसे अपना आदर्श मानना चाहिए और उससे प्रेरणा लेनी चाहिए। मनुष्य जानता है कि शरीर नश्वर है, परन्तु वह यह यथार्थ जानते हुए भी सांसारिक कर्मों में लिप्त रहता है जबकि उसे निर्लिप्त रहकर कार्य करना चाहिए।

दर्शन-ध्यान-संस्पर्शैर्मत्सी कूर्मी च पक्षिणी।
शिशुं पालयते नित्यं तथा सज्जनसंगतिः।।३।।

जिस प्रकार मछली देख-देखकर सन्तान का पालन करती है, उसका प्रयत्न होता है कि उसके अंडे उसके साथ या सामने रहें; कछुई केवल ध्यान द्वारा ही सन्तान का पालन करती है और मादा पक्षी अपने अंडों को से कर या छूकर अपनी सन्तान का पालन करती हैं, उसी प्रकार सज्जन की संगति अपने सम्पर्क में आने वालों को भगवान् के दर्शन, ध्यान और चरणस्पर्श आदि का आभास करा कर उनका कल्याण करती है।

इस श्लोक का दूसरा अर्थ यह है कि सज्जन अपने संग में आए लोगों को देखकर, उनका ध्यान कर और अपने हाथों से उन्हें आशीर्वाद देने के रूप में उनका स्पर्श करके उनका कल्याण करते हैं।

सज्जन पुरुष अपने संगी-साथियों के लिए सक्रिय रूप में कुछ करते हुए भले ही दिखाई न दें, तो भी वे देखकर, ध्यान रखकर और छूकर अपने संगी अथवा अभ्यागतों का हित साधते ही रहते हैं। सज्जनों का संग निश्चित रूप से सुखदायी और हितकारक होता है। सज्जन व्यक्ति अथवा साधु पुरुष की प्रत्येक क्रिया सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों को लाभ पहुंचाती है। किसी भी प्रकार उससे हानि नहीं होती।

यावत्स्वस्थो ह्ययं देहो यावन्मृत्युश्च दूरतः।
तावदात्महितं कुर्यात् प्राणान्ते किं करिष्यति।।४।।

इस संसार में जब तक मनुष्य का शरीर नीरोग और स्वस्थ रहता है, जब तक मृत्यु समीप नहीं आती, तब तक मनुष्य को आत्मकल्याण अथवा मोक्ष-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। उसे दान, तीर्थसेवन, सत्संग, व्रत, पूजा आदि शुभ-कर्म कर लेने चाहिएं, क्योंकि जब तक जीवन है और शरीर स्वस्थ है तब तक ही मनुष्य कुछ करने में समर्थ हो सकता है, शरीर के व्याधिग्रस्त हो जाने पर अथवा मृत्यु के निकट आने पर मनुष्य के लिए कुछ भी

करना सम्भव नहीं होगा। विचारणीय यह है कि रोग, बुढ़ापा और मृत्यु का कोई समय निश्चित नहीं, अतः जितना शीघ्र हो सके व्यक्ति को शुभ कार्यों में लग जाना चाहिए।

आचार्य चाणक्य का कहना है कि समय गुजरता रहता है, और न जाने कब व्यक्ति को रोग घेर लें और कब मृत्यु का संदेश ले यमराज के दूत द्वार पर आ खड़े हों, इसलिए मानव को चाहिए कि वह जीवन में अधिक से अधिक पुण्य कर्म करे।

कामधेनुगुणा विद्या ह्यकाले फलदायिनी।
प्रवासे मातृसदृशी विद्या गुप्तं धनं स्मृतम्।।५।।

विद्या को मनचाहा फल देने वाली कामधेनु गाय के समान बताया गया है। जिस प्रकार वसिष्ठ जी की कामधेनु उनकी सभी इच्छाएं पूरी कर देती थी, उसी प्रकार विद्या की साधना करने वाले को विद्या तत्काल फल देती है। यहां तक कि संकटपूर्ण घड़ी में भी उसका पालन-पोषण और रक्षा करती है। विद्या परदेश में मां के समान है। जिस प्रकार मां सन्तान का सहज भाव से हित चाहती है और सन्तान मां के आश्रय में निश्चिन्त रहती है, उसी प्रकार विद्या मनुष्य का हित करती है और विद्वान् व्यक्ति परदेश में किसी प्रकार के अकेलेपन की चिन्ता से पीड़ित नहीं होता।

आचार्य चाणक्य के अनुसार विद्या एक गुप्त धन है अर्थात् एक ऐसा धन है जो दिखाई नहीं देता, जिसका हरण तथा विभाजन नहीं हो सकता, अतः वह सब प्रकार से सुरक्षित और विश्वसनीय भी है।

इस प्रकार विद्या संकट में कामधेनु के समान ओर परदेश में मां के समान है। सबसे बड़ी बात यह है कि यह प्रच्छन्न और सुरक्षित धन है। सोने के आभूषणों के समान इसे न कोई छीन सकता है, न चुरा सकता है।

एकोऽपि गुणवान् पुत्रो निर्गुणैश्च शतैर्वरः।
एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति न च तारा: सहस्रशः।।६।।

केवल एक गुणवान् और विद्वान् बेटा सैकड़ों गुणहीन निकम्मे बेटों से अच्छा होता है। जिस प्रकार एक ही चांद रात्रि के अन्धकार को दूर करता है, असंख्य तारे मिल कर भी रात्रि के गहन अन्धकार को दूर नहीं कर सकते, उसी प्रकार एक गुणी पुत्र ही अपने कुल का नाम रौशन करता है, उसे ऊंचा उठाता है; सैकड़ों निकम्मे पुत्र मिलकर भी कुल की प्रतिष्ठा को ऊंचा नहीं उठा सकते। निकम्मे गुणहीन पुत्र उलटे अपने बुरे कामों से कुल को कलंकित करते हैं।

इसीलिए तो लोग भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि भगवान् दे तो गुणी पुत्र ही दे। गुणहीन पुत्र के उत्पन्न होने से तो पुत्र का उत्पन्न न होना ही अच्छा है।

यदि गृहस्थ व्यक्ति इस बात को ध्यान में रख कर आरम्भ से ही प्रयत्न करे तो उसे इस कार्य में सफलता प्राप्त हो सकती है कि उसकी सन्तान गुणवान् हो।

मूर्खश्चिरायुर्जातोऽपि तस्माज्जातमृतो वरः।
मृतः स चाल्पदुःखाय यावज्जीवं जडो दहेत्।।७।।

अज्ञानी और मूढ़ पुत्र की लम्बी आयु की अपेक्षा उसका उत्पन्न होते ही मर जाना अच्छा है, क्योंकि जन्म लेकर मरने वाले का दुःख तो थोड़े समय के लिए होता है—थोड़ी देर रोने-धोने के बाद माता-पिता मन को समझा लेते हैं और सम्बन्धियों की बात मान कर अपने कार्य में लग जाते हैं, परन्तु मूर्ख पुत्र जब तक जीता है, तब तक सभी को कष्ट देता रहता है। इसलिए मूर्ख पुत्र के उत्पन्न होने से तो उसका न होना ही अच्छा। फिर भी यदि उत्पन्न हो ही जाये तो उसका मर जाना अच्छा है, क्योंकि उसकी आयु बड़ी होने का अर्थ उससे जीवनपर्यन्त दुःखी होना है। कहने का अभिप्राय यह है कि मूर्ख पुत्र किसी प्रकार वांछनीय नहीं होता। वैसे उसे कोई नहीं चाहता, माता-पिता भी सदा अपने-आपको ही कोसते रहते हैं।

संसार में अनेक उदाहरण हैं कि मूर्ख पुत्रों ने विशाल साम्राज्यों को धूल में मिला दिया। अपने पिता की अर्जित विपुल सम्पत्ति को नष्ट कर दिया। मानव स्वभाववश अपनी सन्तान से प्रेम करता है, परन्तु उसके साथ ही वह वास्तविकता की ओर से आंखें भी मूंद लेता है। चाणक्य इसी बात से सावधान करना चाहते हैं।

कुग्रामवासः कुलहीनसेवा कुभोजनं क्रोधमुखी च भार्या।
पुत्रश्च मूर्खो विधवा च कन्या विनाग्निना षट् प्रदहन्ति कायम्।।८।।

जहां आजीविका अथवा लोगों में सामाजिकता—एक-दूसरे के सुख-दुःख में साथ देने की प्रवृत्ति—नहीं, ऐसे स्थान अथवा गांव में निवास, किसी नीच व्यक्ति की नौकरी, गन्दा—सड़ा-गला—बासी तथा अरुचिकर भोजन, झगड़ालू स्त्री, मूर्ख पुत्र और विधवा कन्या—ये छः मनुष्य के शरीर को बिना किसी आग के ही हर समय जलाते रहते हैं। इनसे व्यक्ति के मन की सुख-शान्ति जाती रहती है और वह न कभी चैन से सोता है और न ही सुख से जागता है। उसका चित्त सदैव दुःखी और अशान्त बना रहता है। व्यक्ति को गन्दे खराब गांव, नीच कुल के व्यक्ति के पास नौकरी, गन्दा भोजन, क्रोधी पत्नी, मूर्ख पुत्र, विधवा कन्या से

हर समय कष्ट का अनुभव होता रहता है।

किं तया क्रियते धेन्वा या न दोग्ध्री न गर्भिणी।
कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान् न भक्तिमान्।।९।।

आचार्य चाणक्य कहते हैं कि जिस प्रकार दूध न देने वाली गाय से कोई लाभ नहीं, उसी प्रकार ऐसे पुत्र से भी कोई लाभ नहीं जो न तो विद्वान् है और न अपने माता-पिता एवं परिजनों में श्रद्धा-भक्ति रखता है। जिस प्रकार जो गाय न तो दूध देती है और न ही गर्भ धारण करने योग्य है अर्थात् दूध से भी रहित है और बांझ भी है अर्थात् सर्वथा निरर्थक है, ऐसी गाय को कोई भी नहीं पालना चाहता। उसी प्रकार ऐसा पुत्र, जो न विद्यावान् है और न ही माता-पिता की सेवा करने वाला है—सर्वथा अवांछनीय है, ऐसी सन्तान से किसी को कोई लाभ नहीं होता। उसका मोह व्यर्थ है।

कहने का अभिप्राय यह है कि सभी दूध देने वाली गाय के समान ही ऐसा पुत्र चाहते हैं जो विद्वान् और माता-पिता का भक्त हो, उनका सेवक हो, उनका ध्यान रखने वाला हो।

संसारतापदग्धानां त्रयो विश्रान्तिहेतवः।
अपत्यं च कलत्रं च सतां संगतिरेव च।।१०।।

इस संसार के दुःखों से संतप्त लोगों को तीन बातों से ही शांति मिल सकती है—अच्छी सन्तान, पतिव्रता स्त्री और सज्जन महात्माओं की संगति।

प्रायः देखा जाता है कि बाहर के संघर्षों से जूझता हुआ, दिन-भर के परिश्रम से थका-मांदा व्यक्ति जब सायंकाल घर लौटता है तो सन्तान को देखते ही अपनी थकावट, अपनी पीड़ा और मानसिक व्यथा को भूल कर स्वस्थ, शान्त और सन्तुलित हो जाता है। इसी प्रकार पति के घर आने पर जब मुस्काती हुई पत्नी उसका स्वागत करती है, मधुर भाषण से उसका समाचार पूछती है, जलपान से उसको तृप्त एवं सन्तुष्ट करती है तो पुरुष अपनी सारी व्यथा-कथा भूल जाता है। इसी प्रकार जब कोई महापुरुष किसी असह्य दुःख से सन्तप्त व्यक्ति को ज्ञानोपदेश देता है तो उसके प्रबोधन से वह भी शान्त और संयत हो जाता है। इस प्रकार आज्ञाकारी सन्तान, पतिव्रता स्त्री और साधुसंग मनुष्य को सुख देने वाले साधन हैं।

सकृज्जल्पन्ति राजानः सकृज्जल्पन्ति पण्डिताः।
सकृत् कन्याः प्रदीयन्ते त्रीण्येतानि सकृत् सकृत्।।११।।

राजा अपनी आज्ञा बार-बार नहीं दोहराता। वह एक ही बार आज्ञा देता है।

जो उसके मुख से निकलता है, वह आदेश होता है और उस पर वह स्थिर रहता है। पण्डित लोग एक बार ही किसी कार्य की पूर्ति के लिए कहते हैं। अर्थात् यदि किसी कार्य की पूर्ति का वचन देते हैं तो 'प्राण जाय पर वचन न जाय' की उक्ति का निर्वाह करते हैं। इसी प्रकार माता-पिता अपनी कन्याओं का विवाह-सम्बन्ध भी एक ही बार स्थिर करते हैं; इस सम्बन्ध में जो बात एक बार निश्चित हो जाती है, कन्या उसी की हो जाती है। इस प्रकार राजा, विद्वान् तथा कन्याओं के विवाह-सम्बन्ध आदि के लिए माता-पिता का वचन अटल होता है। तीनों—राजा, पण्डित तथा माता-पिता द्वारा बोले वचन लौटाए नहीं जाते, अपितु निभाए जाते हैं। उनके निभाने या पूरा करने में ही उनकी महानता होती है। अर्थात् जिसने जो अच्छा काम करना होता है, वह करता है, उसे बार-बार कहने की आवश्यकता नहीं होती।

एकाकिना तपो द्वाभ्यां पठनं गायनं त्रिभिः।
चतुर्भिर्गमनं क्षेत्रं पंचभिर्बहुभी रणः।।१२।।

किसी बात की साधना अथवा तप अकेले और एकान्त स्थान में ही किया जाता है। पढ़ाई दो व्यक्तियों के बीच; दो से अधिक होंगे तो बातें होंगी, पढ़ाई नहीं होगी। गाने के अभ्यास के लिए तीन की संख्या पर्याप्त है; यात्रा के लिए चार व्यक्ति अपेक्षित हैं, क्योंकि दो-दो का मेल हो जाएगा तो यात्रा अच्छी तरह कट जाएगी। खेत बोने के लिए पांच व्यक्तियों की आवश्यकता होती है और युद्ध के लिए बहुत-से लोगों की आवश्यकता होती है।

सा भार्या या शुचिर्दक्षा सा भार्या या पतिव्रता।
सा भार्या या पतिप्रीता सा भार्या सत्यवादिनी।।१३।।

पति के लिए आदर्श पत्नी वही है, जो मन, वचन तथा कर्म से पवित्र हो, जो शरीर और अन्तःकरण से शुद्ध हो, जिसके आचार-विचार स्वच्छ हों, जो गृहकार्यों यथा भोजन, पीसना, कातना, धोना, सीना-पिरोना और साज-सज्जा आदि में निपुण हो, जो मन, वचन और शरीर से पति में अनुरक्त हो और उसे प्रसन्न करना ही अपना कर्त्तव्य-कर्म मानती हो तथा जो निरन्तर सत्य बोलती हो; कभी हंसी-मजाक में भी ऐसी कोई बात नहीं कहती, जिससे थोड़ा भी संदेह पैदा होता हो। वही घर अथवा गृहस्थ सुखी रह सकता है जहां ऐसी पत्नी होगी। अन्यथा गृहस्थ नरक है।

अपुत्रस्य गृहं शून्यं दिशः शून्यास्त्वबान्धवः।
मूर्खस्य हृदयं शून्यं सर्वशून्या दरिद्रता।।१४।।

जिस घर में बेटा नहीं, वह सुनसान बियाबान के समान है। पिता वहां अपने-आपको अकेला अनुभव करता है। उसका वंश आगे नहीं चलता। इसी प्रकार जिस व्यक्ति के कोई सम्बन्धी अथवा परिजन नहीं, वे भी अपने-आपको अकेला पाते हैं। उनका सुख-दुःख बांटने वाला कोई नहीं होता।

मूर्ख व्यक्ति दूसरे के दुःख में न द्रवित होता है और न ही सहानुभूतिवश किसी की सहायता करता है। इस प्रकार मूर्ख व्यक्ति का हृदय उदार भावों—दया, करुणा तथा ममता आदि—से सर्वथा शून्य होता है। वह न किसी के सुख में सुखी और न किसी के दुःख में दुःखी होता है।

निर्धन एवं अभावग्रस्त व्यक्ति के लिए सभी कुछ सूना है, क्योंकि वह जहां कहीं भी जाता है, लोग उससे किनारा कर लेते हैं कि वह किसी चीज़ की मांग न कर बैठे। इसलिए लोगों के रेले-ठेले में भी उसे सब कहीं सूनापन ही मिलता है, कोई उसे अपनाने वाला नहीं होता। दरिद्रता से बढ़कर इस संसार में कोई अभिशाप नहीं। उसके बन्धु-बान्धव भी उससे मुख मोड़कर उसे अकेला छोड़ देते हैं।

अनभ्यासे विषं शास्त्रमजीर्णे भोजनं विषम्।
दरिद्रस्य विषं गोष्ठी वृद्धस्य तरुणी विषम्।।१५।।

बढ़िया से बढ़िया भोजन जिस प्रकार बदहजमी में लाभ करने के स्थान पर हानि पहुंचाता है और विष का काम करता है, अर्थात् खाने वाले का प्राणलेवा भी बन सकता है, उसी प्रकार निरन्तर अभ्यास न रखने से शास्त्रज्ञान भी मनुष्य के लिए घातक विष के समान हो जाता है। कहने को तो वह पण्डित होता है, परन्तु अभ्यास न होने के कारण वह शास्त्र का भली प्रकार विश्लेषण-विवेचन नहीं कर पाता तथा उपहास और अपमान का पात्र बनता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि सम्मानित व्यक्ति को अपना अपमान मृत्यु से भी अधिक दुःख देता है।

दरिद्र व्यक्ति के लिए किसी भी प्रकार की सभाएं विष के समान हैं। इन गोष्ठियों में तो केवल धनवान् व्यक्ति ही जा सकते हैं। यदि कोई दरिद्र भूल अथवा मूर्खतावश इस प्रकार की गोष्ठी में जाने की धृष्टता करता भी है तो उसे वहां से अपमानित होकर निकलना पड़ता है, अतः निर्धन व्यक्ति के लिए सभाओं, गोष्ठियों, खेलों व मेलों-ठेलों में जाना विष के प्रभाव के समान ही होता है।

वृद्ध पुरुष यदि किसी युवा कन्या से विवाह कर लेता है तो उसका जीवन मरणतुल्य हो जाता है। कहा जाता है कि स्त्रियों में पुरुषों से आठ गुना अधिक

कामवासना होती है। जब वृद्ध पति से उसकी सन्तुष्टि नहीं होती तो वह गुप्त रूप से किसी युवक से प्रेम करने लगती है। यदि स्त्री गलत मार्ग पर चल पड़े तो अपनी यौन-तृप्ति के लिए कुछ भी कर सकती है। इसलिए वृद्ध पुरुष को तरुणी से विवाह करके अपने जीवन को नरकमय नहीं बनाना चाहिए। वैसे भी वृद्ध पुरुषों को युवा स्त्रियों से बचना ही चाहिए, नहीं तो उन्हें वृद्धावस्था में अपमान के अतिरिक्त अनेक कष्टों का सामना भी करना पड़ सकता है।

कहने का अभिप्राय यह है कि विवेचना का अभ्यास न होने पर शास्त्र की चर्चा नहीं करनी चाहिए, अजीर्ण अथवा अपच होने पर भोजन नहीं खाना चाहिए, दरिद्र व्यक्ति को सभा-पार्टियों आदि में सम्मिलित नहीं होना चाहिए और बूढ़े लोगों को युवा स्त्रियों का संग नहीं करना चाहिए। इससे उनका शरीर क्षीण ही होगा।

त्यजेद् धर्म दयाहीनं विद्याहीनं गुरुं त्यजेत्।
त्यजेत् क्रोधमुखीं भार्यां निःस्नेहान् बान्धवाँस्त्यजेत्।।१६।।

धर्म का अर्थ ही दया है, परन्तु जिस धर्म में दया नहीं, ऐसे धर्म को अपनाने का कोई लाभ नहीं। जिस गुरु के पास ज्ञान नहीं अर्थात् जो दम्भी है, उसकी सेवा करने से अथवा उसका शिष्य बने रहने से भी कोई लाभ नहीं। निरन्तर झगड़े करने वाली और पति पर बरसती रहने वाली पत्नी को घर में रखने का भी कोई लाभ नहीं। इसी प्रकार स्नेह न करने वाले तथा संकट में साथ न देने वाले बन्धुओं से भी सम्बन्ध बनाए रखना व्यर्थ है।

अभिप्राय यह है कि स्नेह और दयारहित धर्म, विद्याविहीन गुरु, क्रोधी स्वभाव की पत्नी और स्नेहरहित सम्बन्धियों को छोड़ ही देना चाहिए। इन्हें अपनाने से लाभ के स्थान पर हानि होने की ही सम्भावना रहती है। ये बातें दुःख का कारण होती हैं।

अध्वा जरा मनुष्याणां वाजिनां बन्धनं जरा।
अमैथुनं जरा स्त्रीणां वस्त्राणामातपो जरा।।१७।।

निरन्तर पैदल चलते रहने वालों की न तो उचित खान-पान की व्यवस्था रहती है और न सोने-जागने का ही कोई निश्चित समय रहता है। इससे उनके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है और उनके जीवन में असमय ही बुढ़ापा आ जाता है।

निरन्तर खूंटे पर बंधे रहने से तथा दौड़ने-भागने का अभ्यास न करने से घोड़े भी असमय में बूढ़े हो जाते हैं। जिन स्त्रियों से उनके पति उनके साथ मैथुन

नहीं करते, वे बेचारी यौनसुख से वंचित होकर दु:ख और चिन्ता में घुलती रहती हैं और शीघ्र ही बूढ़ी हो जाती हैं। कपड़ों को यदि बहुत समय तक तेज धूप में पड़ा रहने दिया जाये तो उनकी आयु भी क्षीण हो जाती है और वे जल्दी फट जाते हैं।

इस प्रकार निरन्तर पैदल यात्रा मनुष्यों के लिए, निरन्तर घोड़ों का खूंटे से बंधे रहना, अमैथुन स्त्रियों के लिए और कड़ी धूप कपड़ों के हानिकारक है, अत: यौवन की रक्षा के लिए मनुष्यों को पैदल यात्रा मर्यादा में ही करनी चाहिए, घोड़ों को नित्य घुमाना-फिराना चाहिए, युवतियों को अपने पति से मैथुन का अवसर मिलना चाहिए और कपड़ों को धूप में अधिक समय तक नहीं पड़े रहने देना चाहिए।

क: काल: कानि मित्राणि को देश: को व्ययागमौ।
कश्चाहं का च मे शक्तिरिति चिन्त्यं मुहुर्मुहु:।।१८।।

बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिए कि वह बार-बार यह सोचता रहे कि हमारे मित्र कितने हैं, हमारा समय कैसा है—अच्छा है या बुरा और यदि बुरा है तो उसे अच्छा कैसे बनाया जाये; हमारा निवास-स्थान कैसा है (सुखद, अनुकूल अथवा विपरीत), हमारी आय कितनी है और व्यय कितना है, मैं कौन हूं, आत्मा हूं अथवा शरीर, स्वाधीन हूं अथवा पराधीन तथा मेरी शक्ति कितनी है।

इन प्रश्नों पर विचार करते हुए मनुष्य को अपना जीवन बिताना चाहिए तथा आत्मकल्याण के लिए सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए। जो व्यक्ति इन बातों पर विचार नहीं करता, वह पत्थर के समान निर्जीव होता है और सदा लोगों के पांवों में पड़ा ठोकरें खाता रहता है। मनुष्य को समझदारी से काम लेकर जीवन बिताना चाहिए।

अग्निर्देवो द्विजातीनां मुनीनां हृदि दैवतम्।
प्रतिमा स्वल्पबुद्धीनां सर्वत्र समदर्शिनाम्।।१९।।

ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों को द्विजाति कहा गया है, क्योंकि उनका जन्म दो बार होता है, एक बार माता के गर्भ से दूसरा गुरु द्वारा अपना शिष्य बनाये जाने पर, उनका आराध्यदेव अग्नि (तपस्या) है। मुनियों का आराध्यदेव उनके हृदय में विद्यमान देवता होता है। अल्प बुद्धि वाले मूर्ति में ही ईश्वर मान लेते हैं। समान दृष्टि रखने वाले तत्त्वज्ञ सिद्ध महात्माओं के लिए तो ईश्वर सर्वव्यापक है। वे तो कण-कण में ईश्वर की सत्ता देखते हैं, परन्तु इस प्रकार के तत्त्वज्ञानी व्यक्ति बहुत ही कम होते हैं।

पंचम अध्याय

गुरुरग्निर्द्विजातिनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः।
पतिरेव गुरुः स्त्रीणां सर्वस्याऽभ्यागतो गुरुः।।१।।

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों का गुरु इष्टदेव अग्नि है और ब्राह्मण सभी वर्णों का गुरु अर्थात् शिक्षक है, अतः पूजनीय है। स्त्रियों का गुरु अथवा पथ-प्रदर्शक उनका पति होता है। अभ्यागत सभी वर्गों और जातियों के स्त्री-पुरुषों का गुरु अर्थात् पूजनीय है। अभ्यागत वह होता है जो गृहस्थ के घर में अचानक आता है और उसका कोई स्वार्थ नहीं होता। वह तो अपने आतिथेय का कल्याण ही चाहता है। इसीलिए चाणक्य ने अभ्यागत को श्रेष्ठ व्यक्ति माना है।

यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते, निघर्षण - च्छेदन - ताप - ताडनैः।
तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते, त्यागेन, शीलेन, गुणेन, कर्मणा।।२।।

सोने की जांच चार प्रकार से की जाती है—उसे कसौटी पर घिसा जाता है, काट कर देखा जाता है, तपाया और कूटा-पीटा जाता है। इसी प्रकार मनुष्य के कुल अर्थात् श्रेष्ठता की जांच भी चार प्रकार—त्याग, शील, गुण और उसके द्वारा किये जाने वाले कार्यों—से होती है।

किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व के निर्णय के चार तत्त्व होते हैं। त्याग की भावना, ऊंचा चरित्र, उत्तम गुण तथा सत्कर्मों का अनुष्ठान। सोने के समान व्यक्तित्व की परख भी चार प्रकार से होती है।

तावद् भयेषु भेतव्यं यावद् भयमनागतम्।
आगतं तु भयं वीक्ष्य प्रहर्तव्यमशंकया।।३।।

बुद्धिमान् व्यक्ति को तब तक ही भय से डरना या घबराना चाहिए जब तक भय उसके सामने नहीं आ जाता। जब एक बार भय अथवा संकट या कष्ट आ ही

जाए तो उसका डट कर मुकाबला करना चाहिए। भय के सामने आ जाने पर शंकित होना अथवा घबराना समझदारी का काम नहीं। जब संकट सामने आ जाए तो जो उस समय होना है, होगा, देखा जाएगा—ऐसा न सोच कर उस पर पहल करते हुए प्रहार करना चाहिए—अर्थात् उसके निवारण के लिए शक्ति-भर उपाय करना चाहिए। शक्ति-भर संकटों, दुःखों, आपत्तियों का डट कर सामना करना ही मनुष्य की वीरता है।

एकोदरसमुद्भूताः एकनक्षत्रजातकाः।
न भवन्ति समाः शीले यथा बदरिकण्टकाः।।४।।

एक ही नक्षत्र अथवा समय में और एक ही मां के गर्भ से उत्पन्न जुड़वां बच्चे भी समान स्वभाव के नहीं होते। उदाहरण के लिए बेर के वृक्ष में बेर के फल भी उत्पन्न होते हैं और कांटे भी उगते हैं, पर उन दोनों का स्वभाव भिन्न है। फल तो लोगों को स्वाद और तृप्ति देते हैं, परन्तु कांटे चुभन पैदा करने के रूप में दुःख देते हैं।

स्पष्ट है कि जिस प्रकार बेर के वृक्ष पर उगने वाले बेर के फल और कांटे एक स्वभाव के नहीं होते, उसी प्रकार एक ही समय, एक ही मां के गर्भ से जन्मे बच्चे भी एक स्वभाव के नहीं होते। यह ईश्वर की विचित्र लीला है, परन्तु इस लीला को कौन समझता है! और जो समझता है, वही सुखी रहता है।

निःस्पृहो नाऽधिकारी स्यान्नाकामी मण्डनप्रियः।
नाऽविदग्धः प्रियं ब्रूयात् स्पष्टवक्ता न वञ्चकः।।५।।

कभी किसी अधिकार के पीछे भागने की जिसकी कोई अभिलाषा नहीं, जो किसी पद अथवा पदार्थ के पाने का अनिच्छुक है, वह वेशभूषा के प्रति भी विशेष सावधान नहीं होता। मूर्ख पुरुष प्रिय और मधुर वचन नहीं बोल पाता तथा स्पष्ट बोलने वाला कभी धोखेबाज, धूर्त और मक्कार नहीं होता।

प्रायः देखा जाता है कि महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति ही अधिकारों की प्राप्ति के प्रति सतर्क रहता है तथा किसी को मिलने जाने पर अथवा किसी के अपने घर आने पर वेशभूषा और सजने-धजने की ओर विशेष ध्यान देता है। जिसे कुछ लेना-देना ही नहीं, उसे किसी की क्या परवाह? वह इन बातों की ओर ध्यान नहीं देता। अकुशल व्यक्ति अपनी बात को मधुर ढंग से नहीं कह पाता तथा साफ-साफ कहने की आदत वाला व्यक्ति अपने मन में कुछ छिपा कर नहीं रख पाता। वह सत्य कहने का आदी होता है।

मूर्खाणां पण्डिता द्वेष्या अधनानां महाधनाः।

वारांगनाः कुलस्त्रीणां सुभगानां च दुर्भगाः।।६।।

यह संसार की रीति है कि पण्डितों से मूर्ख ईष्या करते हैं, निर्धन बड़े-बड़े धनिकों से अकारण द्वेष करते हैं, वेश्याएं तथा व्यभिचारिणी स्त्रियां पतिव्रताओं से तथा सौभाग्यवती स्त्रियों से विधवाएं द्वेष करती हैं।

होना तो यह चाहिए कि पण्डित मूर्खों की, धनी निर्धनों की, कुलस्त्रियां वेश्याओं की और सौभाग्यवती स्त्रियां विधवाओं की उपेक्षा करें, परन्तु होता उलट है। वस्तुतः हीनभावनाग्रस्त व्यक्ति अपनी दीनता को छिपाने के लिए दूसरे पर दोषारोपण करते अथवा उनमें दोष ढूंढते हैं। यही इस संसार की रीति है।

आलस्योपगता विद्या परहस्तगतं धनम्।
अल्पबीजं हतं क्षेत्रं हतं सैन्यमनायकम्।।७।।

आलस्य के कारण तथा अभ्यास के अभाव में प्राप्त विद्या भी नष्ट हो जाती है, दूसरे के हाथ में गया हुआ धन काम नहीं आता और न लौट कर वापस ही आता है। थोड़ा बीज डालने से खेत फलता-फूलता नहीं तथा सेनापतिरहित सेना विजयी नहीं होती।

आलसी व्यक्ति विद्या की रक्षा नहीं कर सकता, दूसरे के हाथ में गया धन आवश्यकता के समय मिल नहीं पाता, खेत में थोड़ा बीज डालने से फसल भरपूर नहीं होती और सेनापति के बिना सेना रणनीति निर्धारित नहीं कर पाती। स्पष्ट है कि विद्या के लिए परिश्रम अपेक्षित है, धन वही है जो अपने अधिकार में हो, अपने पास हो। फसल तभी अच्छी होगी जब बीज उत्तम और पर्याप्त मात्रा में डाला जाएगा और सेना वही जीतेगी, जिसका संचालन कुशल सेनापति के हाथों में होगा।

अभ्यासाद्धार्यते विद्या कुलं शीलेन धार्यते।
गुणेन ज्ञायते त्वार्यः कोपो नेत्रेण गम्यते।।८।।

निरन्तर अभ्यास से विद्या की रक्षा होती है। सदाचार के संरक्षण से कुल का नाम उज्ज्वल होता है, गुणों के धारण करने से श्रेष्ठता का परिचय मिलता है तथा नेत्रों से क्रोध की जानकारी मिलती है।

अभ्यास के अभाव में पढ़ी हुई विद्या कण्ठस्थ नहीं हो पाती। अभ्यास के बिना शिक्षित व्यक्ति में आत्मविश्वास की प्रवृत्ति नहीं आती। इसीलिए तो एक स्थान पर कहा गया है कि अभ्यास के अभाव में विद्या विषरूप होती है।

किसी भी कुल की प्रतिष्ठा धन-सम्पत्ति से नहीं होती, अपितु शील की

श्रेष्ठता से होती है। यदि धनवान् व्यक्ति चरित्रभ्रष्ट है तो उसे समाज में कभी सम्मान नहीं मिल सकता।

'आर्य' उपनाम रख देने से कोई व्यक्ति श्रेष्ठ नहीं बन जाता। व्यक्ति की श्रेष्ठता का आधार उसके गुण होते हैं। जिस व्यक्ति में उदात्त गुणों की जितनी अधिकता होगी, वह व्यक्ति उतना ही श्रेष्ठ कहलाएगा।

मनुष्य प्रयत्न करने पर भी अपने मन के भाव को छिपा नहीं सकता। व्यक्ति के शरीर के अंगों में उत्पन्न विकार उसके मनोभाव को प्रकट कर ही देते हैं। इसी आधार पर आचार्य चाणक्य का कथन है कि किसी अप्रिय एवं अवाञ्छनीय व्यक्ति का सामना होने पर मनुष्य के मन का रोष-आक्रोश उसके नेत्रों की विकृति से प्रकट हो ही जाता है।

इस प्रकार विद्या की रक्षा के अभ्यास और कुल के गौरव की रक्षा के लिए शील की रक्षा अपेक्षित है। गुणों से व्यक्ति की स्थिति का और नेत्रों से व्यक्ति के मनोभावों का परिचय मिलता है।

वित्तेन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते।
मृदुना रक्ष्यते भूपः सन्नार्या रक्ष्यते गृहम्।।९।।

धर्म की रक्षा धन के द्वारा, विद्या की रक्षा निरन्तर अभ्यास के द्वारा, राजनीति की रक्षा कोमल और दयापूर्ण व्यवहार के द्वारा तथा घर-गृहस्थी की रक्षा कुलीन स्त्री के द्वारा होती है।

यह एक सर्वजनविदित सत्य है कि सभी धर्म-कर्म धन से ही सम्पन्न होते हैं। यज्ञ-यागादि, मन्दिर, अतिथिशाला, कूप, वापी तथा अन्यान्य समाजोपयोगी एवं सार्वजनिक भवनों के निर्माण, तीर्थयात्रा और व्रतानुष्ठान आदि सभी धर्म-कार्यों के लिए धन की अपेक्षा रहती है। बिना धन के तो जीवन-यात्रा भी नहीं चल पाती, धर्मानुष्ठान का तो फिर कहना ही क्या।

योग का अर्थ कर्म-निधान में कौशल है। यदि कोई विद्वान् व्यक्ति व्यवहार-कुशल नहीं, लोक-जीवन के निर्वाह में योग्य नहीं तो उसकी विद्या भी उपहास का विषय बन जाती है। कुशलता से विद्या के गौरव की रक्षा होती है।

प्रजा राजा को अपने पिता, रक्षक एवं परमेश्वर के रूप में जानती है और उससे सदैव अपने प्रति उदारता एवं क्षमाशीलता की उपेक्षा रखती है। जब प्रजा सरकारी अधिकारियों के अन्याय के विरुद्ध राजा से गुहार करती है तो राजा का कर्त्तव्य है कि प्रजा का दोष होने पर भी वह पिता के समान उदार दृष्टिकोण अपनाए। इसी में उसकी गरिमा और महिमा है।

जब तक स्त्री अपने सतीत्व पर अचल-अटल रहती है, तब तक किसी परपुरुष का उसकी ओर आंख उठाने का साहस नहीं होता, और यदि स्त्री पथभ्रष्ट हो जाती है तो सारे परिवार की प्रतिष्ठा मिट्टी में मिल जाती है।

स्पष्ट है धर्मपालन के लिए धन की, विद्या के गौरव की रक्षा के लिए कर्मकुशलता की, राजा की लोकप्रियता को बनाए रखने के लिए कोमल व्यवहार की तथा परिवार के सम्मान को सुरक्षित रखने के लिए स्त्री की सच्चरित्रता आवश्यक होती है।

अन्यथा वेदपाण्डित्यं शास्त्रमाचारमन्यथा।
अन्यथा वदतः शान्तान् लोकः क्लिश्यन्ति चान्यथा।।१०।।

वेदों के तत्त्वज्ञान को, शास्त्रों के विधान और सदाचार को तथा सन्तों के उत्तम चरित्र को मिथ्या कहकर कलंकित करने वाले लोक-परलोक में भारी कष्ट उठाते हैं।

ऋषियों ने वर्षों की साधना के उपरान्त प्राप्त जिस तत्त्वज्ञान का प्रकाश वेद-शास्त्रों के रूप में किया तथा जनसाधारण के कल्याण के लिए जिन आचरणीय नियमों का विधान किया, उस तत्त्वज्ञान तथा आचार-परम्परा का विरोध करना एवं उन निःस्पृह, तपोधर्मा, परोपकारी महात्माओं के प्रति अवज्ञा का भाव दिखाना जहां व्यक्ति की मूर्खता की पराकाष्ठा है, वहां परम्परागत एवं लोकप्रतिष्ठित धर्माचरण का उच्छेदन कर समाज को अधर्म के गहरे गर्त में धकेलना भी है। इसे कभी लोकहित की भावना से प्रेरित कर्म नहीं माना जा सकता। अतः वेद-शास्त्र एवं महात्माविरोधी व्यक्ति सर्वथा निन्दनीय एवं उपेक्षणीय हैं। समाज के व्यापक हितों की दृष्टि से ऐसे व्यक्ति एक प्रकार से संकटमूलक ही होते हैं, अतः इनका त्याग करने में समाज का हित है।

दारिद्र्यनाशनं दानं शीलं दुर्गतिनाशनम्।
अज्ञाननाशिनी प्रज्ञा भावना भयनाशिनी।।११।।

दान से दरिद्रता का, सदाचार से दुर्गति का, उत्तम बुद्धि से अज्ञान का तथा सद्भावना से भय का नाश होता है।

सम्पन्न व्यक्ति द्वाया किए गए दान की अपेक्षा अभावग्रस्त व्यक्ति द्वारा स्वयं अभावों को झेलते हुए दूसरों के सुख के लिए दान करना अधिक महत्त्वपूर्ण है। जो व्यक्ति स्वयं कष्ट सहन करके दूसरों के कष्टों को दूर करने में संलग्न रहता है, उसका त्याग सचमुच ही महत्त्वपूर्ण होता है। ऐसे उदार दरिद्र के प्रति भगवान् सहज ही द्रवित होकर उसका दारिद्र्य यथाशीघ्र दूर कर देते हैं।

सदाचार की परीक्षा भी संकट में ही होती है। संकट के उपस्थित होने पर अपने सदाचार की सुरक्षा में तत्पर व्यक्ति दूसरों की दृष्टि में निश्चित रूप से ही बहुत ऊंचा उठ जाता है, उसका महत्त्व अत्यधिक बढ़ जाता है, लोग उसका विशेष आदर करने लगते हैं और उसे इष्ट-मित्रों का सहयोग सुलभ हो जाता है। इससे उसका संकट बहुत दिनों तक स्थिर नहीं रह पाता।

जिस प्रकार प्रकाश और अन्धकार एक साथ नहीं रह सकते, उसी प्रकार ज्ञान और अज्ञान भी एक-साथ नहीं रह पाते। यदि बुद्धिमान् व्यक्ति अज्ञानी पुरुषों जैसा आचरण करता है तो उसे कोई बुद्धिमान् नहीं कहता। कहने का अभिप्राय यह है कि उत्तम बुद्धि का काम ही अज्ञान का विनाश करना है। यदि अज्ञान का विनाश नहीं होता तो बुद्धि की सात्त्विकता सन्देह की वस्तु बन जाती है।

किसी भी प्राणी से भय की आशंका का मूल कारण अविश्वास और सन्देह ही होता है। यदि एक-दूसरे के प्रति विश्वास की भावना उत्पन्न हो जाए तो भय के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता। उदाहरणार्थ सिंह आदि हिंसक प्राणी भी सद्भाव दिखाए जाने पर स्वामीभक्त सेवक के रूप में व्यवहार करते देखे जाते हैं। स्पष्ट है कि भय का मूल कारण दुर्भावना है और दुर्भावना को हटाकर ही भय को मिटाया जा सकता है।

नास्ति कामसमो व्याधिर्नास्ति मोहसमो रिपुः।
नास्ति क्रोधसमो वह्निर्नास्ति ज्ञानात्परं सुखम्।।१२।।

इस संसार में कामवासना के सदृश कोई भयंकर रोग नहीं है। काम एक ऐसा रोग है जो मनुष्य के शरीर को खोखला करके उसे सर्वथा अशक्त बना देता है। मोह—अन्धा लगाव जैसा संसार में कोई दूसरा भयंकर और अजेय शत्रु नहीं। क्रोध जैसी दूसरी कोई आग नहीं जो मनुष्य को निरन्तर जलाती और नष्ट करती रहती है। ज्ञान से बढ़कर कोई सुख नहीं। कामवासना एक भयंकर रोग है, मोह ऐसा शत्रु है जिसे जीतना कठिन है, क्रोध शरीर को जलाने वाली आग है और ज्ञान ही चरम सुख की अनुभूति है।

जन्ममृत्यू हि यात्येक्ो भुनक्त्येकः शुभाऽशुभम्।
नरकेषु पतत्येक एक्ो याति परां गतिम्।।१३।।

व्यक्ति संसार में अकेला ही जन्म लेता है तथा अकेला ही मरता है। उसके द्वारा कमाई हुई धन-सम्पत्ति, भाई-बन्धु सब यहीं रह जाते हैं। इस संसार में न कोई किसी के साथ आता है और न कोई किसी के साथ जाता है। भला-बुरा

सब-कुछ व्यक्ति को अपने आप भुगतना पड़ता है। इसमें कोई किसी का साथ नहीं देता।

संसार में मनुष्य पूर्वजन्म में किए गए अच्छे-बुरे कर्मों के अनुरूप अकेला ही फल भुगतता है। उसमें कोई भागीदार नहीं मिलता। सुख-दुःख में सहानुभूति रखना अथवा साथ देना और उनको भुगतना दोनों अलग-अलग बातें हैं। परिवार के जो व्यक्ति, सदस्य अथवा मित्र उसके साथ असुविधाएं अथवा कष्ट उठाते हैं, यह भी उनके कर्मफल के अनुरूप ही होता है। इस प्रकार व्यक्ति निकृष्ट कर्मों के फलस्वरूप जिस अधोगति को प्राप्त होता है, उसे भी अकेला ही भुगतता है। इसके विपरीत यदि अच्छे कर्मों के लिए उसे मोक्ष प्राप्त होता है तो उसमें भी कोई उसके साथ नहीं जाता। ऐसी स्थिति में व्यक्ति को धन-सम्पत्ति तथा सांसारिक माया-मोह में पड़ने की क्या आवश्यकता है? इसलिए व्यक्ति को चाहिए कि वह निर्विकार भाव से सांसारिक सम्बन्धों को देखे। जीव का कल्याण इसी में है।

तृणं ब्रह्मविदः स्वर्गस्तृणं शूरस्य जीवितम्।
जिताऽक्षस्य तृणं नारी निःस्पृहस्य तृणं जगत्।।१४।।

जिस आदमी को ब्रह्म-ज्ञान है उसके लिए स्वर्ग भी तुच्छ है, क्योंकि वह स्वर्ग के सुखों की क्षणिकता और निरर्थकता से परिचित होता है। अतः वह उनमें आसक्त नहीं होता। शूरवीर व्यक्ति के लिए जीवन का कोई मोह नहीं होता, क्योंकि यदि वह जीवन में मोह रखेगा तो उसके लिए युद्ध करना असम्भव होगा। वे सदा अपनी जान को हथेली पर रखे रहते हैं। इसी प्रकार इन्द्रियों को वश में रखने वाले व्यक्ति के लिए नारी का कोई महत्त्व नहीं। उसका सौन्दर्य ऐसे व्यक्ति को मोहित नहीं कर सकता, क्योंकि वह जानता है कि यह सौन्दर्य मांस के एक लोथड़े के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

इसी प्रकार निःस्पृह व्यक्ति के लिए संसार के भरपूर सुन्दर खजाने तथा अन्य वस्तुएं तिनके के समान तुच्छ होती हैं। ये पदार्थ उसे आकर्षित नहीं कर सकते।

विद्या मित्रं प्रवासेषु भार्या मित्रं गृहेषु च।
व्याधितस्यौषधं मित्रं धर्मो मित्रं मृतस्य च।।१५।।

विदेश में रहने वाले व्यक्तियों का सच्चा मित्र उनकी विद्या होती है। अपने घर में रहने वाले के लिए उसका सच्चा मित्र उसकी पतिव्रता स्त्री है। रुग्ण व्यक्ति का मित्र औषध है और मृत्यु-शैया पर पड़े व्यक्ति का मित्र उसका धर्म और जीवन में किए गए सत्कर्म हैं।

विदेश में जहां व्यक्ति का कोई परिचित नहीं होता, वहां विद्या ही उसका ऐसा परम मित्र है जो उसे तनाव से मुक्ति देने के अतिरिक्त राज्यसम्मान भी दिलवाती है। विद्या के अतिरिक्त उसका विश्वस्त मित्र वहां और कोई नहीं होता।

परिवार में जहां अनेक कलह और विवाद उत्पन्न हो जाते हैं और अनेक बार धन के कारण कठिनाइयों का सामना भी करना पड़ता है, वहां पति-परायणा स्त्री ही पति की सबसे अच्छी मित्र होती है। रोगी की सबसे पहली आवश्यकता रोग से मुक्ति पाना होती है। उसके लिए सबसे अधिक उपयोगिता औषध की है। उसका सबसे अच्छा मित्र औषध ही है।

चाणक्य कहते हैं मनुष्य जब जीवन से मुक्त होकर परलोक में जाने की तैयारी करता है तो केवल धर्म और सत्कर्म ही उसके साथ जाते हैं। जीवनकाल में उसने कोई सत्कर्म नहीं किया तो वह अन्तकाल में दुःखी दिखाई देता है।

वृथा वृष्टिः समुद्रेषु वृथा तृप्तेषु भोजनम्।
वृथा दानं धनाढ्येषु वृथा दीपो दिवाऽपि च।।१६।।

समुद्र में बादलों का बरसना व्यर्थ है। जिसका पेट भरा हुआ हो ऐसे आदमी को भोजन कराना बेकार है। धनी व्यक्तियों को दान देना उसी प्रकार व्यर्थ है जिस प्रकार दिन में सूर्य के प्रकाश में दीपक जलाना।

वर्षा की आवश्यकता सूखे मैदानों में होती है, भोजन की आवश्यकता भूखे व्यक्ति के लिए है, दान की आवश्यकता दरिद्र के लिए है और दीपक की आवश्यकता रात्रि के अन्धकार में ही होती है।

नास्ति मेघसमं तोयं नास्ति चात्मसमं बलम्।
नास्ति चक्षुःसमं तेजो नास्ति धान्यसमं प्रियम्।।१७।।

बादलों से बरसते हुए जल के समान कोई दूसरा स्वच्छ पानी नहीं होता। आत्मबल के समान कोई दूसरा बल नहीं होता। आंखों की ज्योति के समान कोई दूसरा उत्कृष्ट प्रकाश नहीं होता तथा अन्न के समान दूसरा कोई भोज्य पदार्थ रुचिकर नहीं हो सकता।

मेघ के जल को सर्वाधिक स्वच्छ और स्वास्थ्यवर्धक माना जाता है। मनुष्य में यदि आत्मबल है तो बाहर की शक्तियां भी उसका साथ देती हैं। इसी प्रकार यदि नेत्रों में ज्योति है तो हम बाहर का प्रकाश भी देखते हैं और यदि अन्न हो तो अन्य किसी वस्तु से हमारी तुष्टि नहीं हो सकती।

अधना धनमिच्छन्ति वाचं चैव चतुष्पदाः।
मानवाः स्वर्गमिच्छन्ति मोक्षमिच्छन्ति देवताः।।१८।।

निर्धन व्यक्ति धन की कामना करते हैं और चौपाये अर्थात् पशु बोलने की शक्ति चाहते हैं। मनुष्य स्वर्ग की इच्छा करता है और स्वर्ग में रहने वाले देवता मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा करते हैं।

इस संसार में यह एक सरल-साधारण सत्य है कि जिस व्यक्ति के पास जिस वस्तु का अभाव होता है, वह उसे ही प्राप्त करना चाहता है, उसी को अधिक महत्त्व देता है। उदाहरण के लिए निर्धन व्यक्ति सबसे अधिक महत्त्व धन को देता है। वह उसकी प्राप्ति के लिए हमेशा व्याकुल रहता है। पशुओं के लिए सबसे बड़ा अभाव वाणी है। वे उसे पाने की लालसा रखते हैं। मनुष्य इस लोक की अपेक्षा स्वर्ग के स्वप्नों की कामना करता है और स्वर्ग में रहने वाले देवता मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा करते हैं।

आचार्य चाणक्य के इस श्लोक का अर्थ यह है कि इस संसार में सभी प्राणी किसी न किसी प्रकार के अभाव से पीड़ित हैं। जो कुछ उन्हें प्राप्त है वे उसको महत्त्व न देकर सदा अप्राप्त वस्तु की कामना करते रहते हैं।

सत्येन धार्यते पृथिवी सत्येन तपते रविः।
सत्येन वाति वायुश्च सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्।।१९।।

आचार्य चाणक्य ने इस श्लोक में सत्य के महत्त्व को प्रकट किया है। उनका कहना है कि पृथिवी सत्य के बल पर ही स्थिर है। सत्य की शक्ति से ही सूर्य में ताप है, तेज है। सत्य की शक्ति से ही दिन और रात वायु चलती है। इस प्रकार सारी सृष्टि सत्य पर ही टिकी हुई है।

चाणक्य ने यहां सत्य शब्द का अर्थ ब्रह्म से लिया है। उपनिषदों के अनुसार ज्ञान और अनन्त ब्रह्म का पर्याय सत्य है। चाणक्य ने यहां प्रभु की महिमा का ही वर्णन किया है, अर्थात् प्रभु की कृपा से ही पृथिवी स्थिर है। उसी की कृपा से सूर्य में ताप है। उसी की कृपा का फल है कि वायु में वेग है। वही इस संसार का उत्पादक, संरक्षक और संहारक है। सारा संसार उसी के बल पर स्थिर है। वही संसार को धारण किये हुए है।

चला लक्ष्मीश्चलाः प्राणाश्चले जीवित-मन्दिरे।
चलाऽचले हि संसारे धर्म एको हि निश्चलः।।२०।।

इस संसार में लक्ष्मी अस्थिर है। प्राण अनित्य हैं। जीवन भी सदा रहने वाला नहीं, घर-परिवार भी नष्ट हो जाने वाला है। सब पदार्थ अनित्य और नश्वर हैं।

केवल धर्म ही नित्य और शाश्वत है। इसलिए मनुष्य का कर्त्तव्य है कि नश्वर जगत् की अनित्य वस्तुओं में आसक्ति छोड़ कर नित्य रहने वाले धर्म का ही सेवन करे। सभी जानते हैं कि सब-कुछ अनित्य है, यहां तक कि हमारा शरीर भी, फिर भी मनुष्य शाश्वत सत्य अर्थात् धर्म की ओर ध्यान न देकर नश्वर वस्तुओं को चाहता है।

नराणां नापितो धूर्तः पक्षिणां चैव वायसः।
चतुष्पदां शृगालस्तु स्त्रीणां धूर्ता च मालिनी।।२१।।

मनुष्यों में नाई, पक्षियों में कौआ, पशुओं में गीदड़ और स्त्रियों में मालिन को धूर्त माना गया है। ये चारों अकारण ही दूसरों का काम बिगाड़ते हैं, एक-दूसरे से लड़ाते हैं और परेशानी में डालते हैं।

जनिता चोपनेता च यस्तु विद्यां प्रयच्छति।
अन्नदाता भयत्राता पञ्चैते पितरः स्मृताः।।२२।।

मानव को जन्म देने वाला, यज्ञोपवीत संस्कार करने वाला पुरोहित, विद्या देने वाला आचार्य, अन्न देने वाला व्यक्ति तथा भय से मुक्ति दिलाने अथवा रक्षा करने वाला, ये पांचों पिता के समान माने जाते हैं। इनका पिता के समान ही आदर-सत्कार करना चाहिए। इन लोगों को जन्मदाता पिता के समान ही सम्मान और गौरव प्रदान करना उचित है। मनुष्य को इन लोगों के प्रति सदा कृतज्ञ रहना चाहिए।

राजपत्नी गुरोःपत्नी मित्रपत्नी तथैव च।
पत्नीमाता स्वमाता च पञ्चैता मातरः स्मृताः।।२३।।

राजा की पत्नी, गुरु की पत्नी, मित्र की पत्नी, पत्नी की माता, इन सब को अपनी माता के समान मानना चाहिए। इन्हें अपनी मां के समान ही आदर-सम्मान देना चाहिए। इनके रूप-सौन्दर्य तथा यौवन पर आसक्त होना, इनके प्रति कुदृष्टि रखना अथवा कामुकता की भावना को स्थान देना बहुत बड़ा दोष एवं जघन्य पाप है। ऐसा व्यक्ति, मानो अपनी मां के साथ अनौचित्यपूर्ण आचरण करता है। वस्तुतः राजपत्नी, गुरुपत्नी, मित्र की पत्नी और सास आदि मां के समान ही श्रद्धेय हैं। इनका सदा सम्मान करना चाहिए।

षष्ठ अध्याय

श्रुत्वा धर्मं विजानाति श्रुत्वा त्यजति दुर्मतिम्।
श्रुत्वा ज्ञानमवाप्नोति श्रुत्वा मोक्षमवाप्नुयात्।।१।।

आचार्य चाणक्य के इस श्लोक का अर्थ यह है कि मनुष्य को धर्म के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान शास्त्रों और नीतिपूर्ण बातों को सुनने से भी हो सकता है। इसी प्रकार मनुष्य ज्ञानपूर्ण बातें सुनकर दुर्बुद्धि को त्याग सकता है। सुनने-समझने से ही व्यक्ति को प्रत्येक बात का ज्ञान होता है। धर्माचरणपूर्ण बातों तथा शास्त्रों के ज्ञान की बातें सुनने से व्यक्ति को मोक्ष भी प्राप्त हो सकता है।

इस श्लोक से यह स्पष्ट है कि जो श्रोता किसी बात को सुनकर स्पष्ट जानकारी प्राप्त कर सकता है, वह सम्भवतः पढ़ने से भी प्राप्त नहीं होती क्योंकि धर्मोपदेश देने वाला व्यक्ति विषय को उदाहरण आदि देकर स्पष्ट कर देता है। संसार में अनेक ऐसे महापुरुष हुए हैं जिन्होंने ज्ञान की बातें सुनकर ही प्रसिद्धि प्राप्त की। इससे स्पष्ट है कि श्रवण का महत्त्व अध्ययन से भी अधिक है। गुरु भी यदि कोई शिक्षा देता है तो उसमें उदाहरणों आदि का पुट देकर विषय को स्पष्ट कर देता है। उसका प्रयत्न रहता है कि उसके शिष्य अथवा श्रोता उसकी बात को अच्छी तरह समझ सकें। वक्ता द्वारा कही गई बात श्रोता की समझ में आ जाये तभी उसका कथन सफल माना जा सकता है। अतः मनुष्य का कर्त्तव्य है कि यदि वह स्वयं शास्त्र न पढ़ सके तो धर्मोपदेशों को सुने, उनका श्रवण करे।

पक्षिणां काकश्चाण्डालः पशूनां चैव कुक्कुरः।
मुनीनां पापश्चाण्डालः सर्वेषां चैव निन्दकः।।२।।

इस श्लोक का भावार्थ यह है कि पक्षियों में सबसे अधिक दुष्ट और नीच कौआ होता है। इसी प्रकार पशुओं में कुत्ता और साधुओं में वह व्यक्ति नीच व चाण्डाल माना जाता है जो अपने नियमों को भंग करके पाप-कर्म में प्रवृत्त हो

जाय। सबसे अधिक चाण्डाल दूसरों की निन्दा करने वाला व्यक्ति होता है।

जिस व्यक्ति के परोक्ष में निन्दा की जाती है वह सुनने के लिए वहां उपस्थित नहीं होता, इसलिए निन्दक को ही उसका पाप भुगतना पड़ता है। इसलिए अच्छा है कि मनुष्य निन्दा करने की प्रवृत्ति से बचे। कुछ लोग निन्दा करने में प्रसन्नता अनुभव करते हैं, परन्तु मनुष्य की यह सबसे बड़ी दुर्बलता है। इसलिए आवश्यक है कि परनिन्दा से बचें। इससे अपना समय नष्ट करने के अतिरिक्त और कुछ पल्ले नहीं पड़ता।

भस्मना शुद्धयते कांस्यं ताम्रमम्लेन शुद्धयते।
रजसा शुद्धयते नारी नदी वेगेन शुद्धयति।।३।।

कांसे के पात्र को यदि राख से साफ किया जायेगा तो वह चमकने लगेगा। तांबे के बर्तन को शुद्ध करने के लिए खटाई की आवश्यकता होती है। स्त्री की शुद्धि के लिए आवश्यक है कि वह रजोदर्शन कर चुकी हो। इसी प्रकार नदी की शुद्धि उसके वेगपूर्ण बहाव में होती है।

जो नदियां धीरे-धीरे बहती हैं उनका पानी सदैव अशुद्ध और गंदला दिखाई देता है। वेग से बहने वाली नदियां स्वतः स्वच्छ हो जाती हैं। इसी प्रकार स्त्री की शुद्धि उसके रजस्वला होने के बाद ही होती है, क्योंकि उसके बाद ही वह गर्भधारण करने के योग्य समझी जाती है। जिस स्त्री को रजोधर्म नहीं होता वह बन्ध्या रह जाती है।

भ्रमन् सम्पूज्यते राजा भ्रमन् सम्पूज्यते द्विजः।
भ्रमन् सम्पूज्यते योगी भ्रमन्ती स्त्री तु नश्यति।।४।।

राजा का कर्त्तव्य है कि वह अपने राज्य के विभिन्न प्रदेशों में घूम-घूम कर अपनी प्रजा के सम्बन्ध में सब तरह की जानकारी प्राप्त करे। यदि वह एक स्थान पर बैठा रहेगा तो उसे प्रजा की उन्नति व दुर्गति के बारे में कोई ज्ञान नहीं होगा। अपने राज्य में घूमने-फिरने और प्रजा के हित के कार्य करने से ही राजा की पूजा होती है। इसी प्रकार जो ब्राह्मण विभिन्न स्थानों पर घूमता-फिरता नहीं; उसके यजमानों में भी कमी आती है और उसका आदर-सम्मान भी कम हो जाता है। इसी प्रकार जो साधु अथवा योगी पुरुष विभिन्न स्थानों पर घूमते हैं लोग उनकी पूजा करते हैं, क्योंकि यदि साधु एक स्थान पर टिक जायेगा तो उसे उस स्थान की चीजों अथवा व्यक्तियों में मोह उत्पन्न हो जायेगा। इससे उसके पतन की सम्भावना पैदा हो जाती है। किन्तु, चाणक्य कहते हैं कि बिना कारण इधर-उधर घूमने वाली स्त्री शीघ्र ही पतन के मार्ग पर चल पड़ती है। वह बड़ी आसानी से दूसरे के चंगुल में फंस सकती है और इस प्रकार उसका जीवन नष्ट हो

सकता है। इसलिए स्त्री को अन्य व्यक्तियों के समान बिना मतलब इधर-उधर घूमने की आदत से रोकना चाहिए।

यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः।
यस्यार्थाः स पुमांल्लोके यस्यार्थाः स च पण्डितः।।५।।

जिस व्यक्ति के पास पैसा है लोग स्वतः ही उसके मित्र बन जाते हैं। बन्धु-बान्धव भी उसे आ घेरते हैं। जो धनवान् है उसी को आज के युग में विद्वान् और सम्मानित व्यक्ति माना जाता है। धनवान् व्यक्ति को ही विद्वान् और ज्ञानवान् भी समझा जाता है।

सैकड़ों वर्ष पूर्व आचार्य चाणक्य द्वारा कही गई यह बात आज के युग में पूरी तरह सत्य सिद्ध हो रही है। जिसके पास धन नहीं होता मित्र उससे मुंह मोड़ लेते हैं, बन्धु-बान्धव और परिवार वाले उसका परित्याग कर देते हैं। यहां तक कि निर्धन व्यक्ति को इन्सान समझने में भी कठिनाई अनुभव की जाती है। अनेक गुणों वाला निर्धन व्यक्ति आज के युग में उपेक्षित रहता है।

तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायोऽपि तादृशः।
सहायास्तादृशा एव यादृशी भवितव्यता।।६।।

मनुष्य जैसा भाग्य लेकर आता है उसकी बुद्धि भी उसी के समान बन जाती है, कार्य-व्यापार भी उसी के अनुरूप मिलता है। उसके सहयोगी संगी-साथी भी उसके भाग्य के अनुरूप ही होते हैं।

चाणक्य के कहने का अभिप्राय यह है कि मनुष्य की भावी प्रबल है। जो होना है वह होकर रहेगा। इसलिए अनेक बार मनुष्य द्वारा सोची हुई बातें, उसकी कुशलता और उसके प्रयत्न सब निष्फल हो जाते हैं। अनेक स्थानों पर शास्त्रों में यह लिखा हुआ है कि विपत्ति के आने पर मनुष्य की निर्मल बुद्धि भी मलिन हो जाती है। इतिहास में भी ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे कि अनेक महापुरुषों ने भावी के इस चक्र में पड़ कर भयंकर भूलें कीं। उदाहरण के लिए श्रीराम को मर्यादा पुरुषोत्तम कहा जाता है, परन्तु वे भी मायावी स्वर्ण मृग को देखकर उसके पीछे भाग पड़े और उसके बाद जो घटना घटी उससे सब अच्छी तरह परिचित हैं। परन्तु चाणक्य का यह अभिप्राय भी नहीं कि मनुष्य होनहार के भरोसे अपने उद्यम का परित्याग कर दे। उसे कर्मफल की इच्छा न रखकर कर्म करते रहना चाहिए।

कालः पचति भूतानि कालः संहरते प्रजाः।
कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः।।७।।

इस संसार में सबसे अधिक बलवान् काल अथवा समय है। उसको वश में करना अथवा उसका अतिक्रमण करना कठिन ही नहीं, असम्भव भी है। काल मनुष्यों, प्राणियों और सभी जीवधारियों के अतिरिक्त सभी वस्तुओं को क्षीण, दुर्बल और जीर्ण करता है। समय पाकर व्यक्ति बूढ़ा हो जाता है। उसके शरीर पर बुढ़ापे के चिह्न प्रकट होने लगते हैं। काल ही एक ऐसी वस्तु है जो सब व्यक्तियों के सो जाने पर भी जागता रहता है, अर्थात् काल का चक्र सृष्टि के आदि से अन्त तक निरन्तर चलता रहता है। वह कभी रुकता नहीं। जो उसकी उपेक्षा करता है, काल उसे पीछे छोड़कर आगे निकल जाता है।

काल के प्रभाव से बचना व्यक्ति के लिए असंभव है। योग-साधन अथवा वैज्ञानिक उपायों से भी काल के प्रभाव को हटाया नहीं जा सका। समय का प्रभाव हर वस्तु पर पड़ता है। शरीर निर्बल हो जाता है, वस्तुएं जीर्ण हो जाती हैं। सभी देखते हैं और जानते हैं कि व्यक्ति यौवन में जिस प्रकार साहसपूर्ण कार्य कर सकता था वृद्धावस्था में ऐसा कुछ नहीं कर पाता। बुढ़ापे के चिह्न व्यक्ति के शरीर पर काल के पग-चिह्न हैं। काल को मोड़ कर पीछे नहीं घुमाया जा सकता। यह बात बिल्कुल सत्य है कि काल की गति को रोकना देवताओं के लिए भी संभव नहीं। अनेक कवियों ने काल की महिमा का वर्णन किया है। भर्तृहरि ने भी कहा है कि काल समाप्त नहीं होता वरन् मनुष्य का शरीर ही काल का ग्रास बन जाता है।

न पश्यति च जन्मान्धः कामान्धो नैव पश्यति।
न पश्यति मदोन्मत्तः ह्यर्थी दोषं न पश्यति।।८।।

जो व्यक्ति जन्म से अन्धा है उसे तो कुछ दिखाई नहीं देता, परन्तु जो व्यक्ति काम के आवेग में अन्धा हो जाता है उसे भी कुछ दिखाई नहीं देता। वह भरी सभा में भी इस प्रकार की हरकतें करने लगता है जो निन्दनीय होती हैं। नशे में धुत व्यक्ति भी अच्छाई और बुराई को नहीं देख पाता, इसलिए वह भी अन्धा होता है। उसे यह नहीं पता होता कि उसके मुख से क्या बात निकल रही है और वह किसके सामने ऊटपटांग बातें कर रहा है। इसी प्रकार स्वार्थ में पड़ा हुआ याचक भी किसी दोष को न देखने के कारण दीन-हीन बातें करता है, क्योंकि उसकी आवश्यकता उसे अन्धा बना देती है। वह दोष और गुणों को न देखकर मिथ्या प्रशंसा करने लगता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि काम से पीड़ित, मदिरा आदि नशीली वस्तुओं से प्रभावित और अपनी आवश्यकता को पूरा करने के लोभ में पड़ा हुआ व्यक्ति अन्धा अर्थात् विवेक-विहीन हो जाता है।

स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते।

स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद् विमुच्यते।।९।।

व्यक्ति स्वयं अच्छे-बुरे काम करता है, इसलिए उसे अच्छे-बुरे फल भी स्वयं ही भुगतने पड़ते हैं। वह संसार के मोह-मायाजाल में स्वयं ही फंसता और उससे मुक्त भी स्वयं ही होता है।

चाणक्य के इस श्लोक से यह स्पष्ट है कि मनुष्य अथवा जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है, परन्तु फल भोगने में परतन्त्र है। वह अपनी इच्छा से ही संसार के बन्धनों में बंधता है और यदि वह दृढ़ इच्छा कर ले तो उनसे मुक्त भी हो सकता है। मनुष्य के जीवन में सुख-दुःख पूर्वजन्मों के कर्मों का फल ही माने जाते हैं। इस प्रकार यह कहना उचित ही है कि मनुष्य सुख-दुःख के बन्धन में बंधने और उनसे मुक्त होने के लिए स्वयं ही उत्तरदायी है। यह स्वयं उसके अपने हाथ में है कि वह चाहे तो अपने-आप को उन बन्धनों में जकड़ ले, चाहे तो अपने-आपको उनसे मुक्त कर ले।

राजा राष्ट्रकृतं पापं राज्ञः पापं पुरोहितः।
भर्त्ता च स्त्रीकृतं पापं शिष्यपापं गुरुस्तथा।।१०।।

राजा का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने राज्य में पापकर्म न होने दे। उसका यह भी कर्त्तव्य है कि वह अपराधियों और दुष्टों को दण्ड दे तथा प्रजा को पापकर्म से अलग रखे। यदि वह ऐसा नहीं कर पाता तो प्रजा द्वारा किए गए पापकर्मों के लिए उसी को दोषी ठहराया जायेगा और उसे उन पापों का फल भुगतना होगा।

इसका सीधा सम्बन्ध राजा द्वारा अपने कर्त्तव्यपालन न करने से है। राजा यदि अपने राज्य में कर्त्तव्यपालन के प्रति उदासीन रहता है तो वहां पाप-वृत्तियां बढ़ती हैं। उसका दोषी राजा ही समझा जाता है। पुरोहित का कर्त्तव्य है कि राजा को अच्छी सलाह दे, उसे सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त करे, उसे सच्ची और खरी बात बताये और अनुचित कर्म करने से रोके। यदि पुरोहित अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता और उसके कारण राजा पापकर्म में प्रवृत्त होता है तो उसका फल उसके पुरोहित अथवा मंत्री को भुगतना पड़ता है। इसी प्रकार पति का कर्त्तव्य है कि पत्नी को पापकर्म की ओर प्रेरित न होने दे, उसे अपने नियन्त्रण में रखे। पत्नी यदि कोई गलत काम करती है तो उसका फल अथवा परिणाम पति को भोगना पड़ता है। इसी प्रकार गुरु का कर्त्तव्य है कि शिष्य का सही मार्गदर्शन करे, उसे सत्कर्मों की ओर प्रेरित करे। यदि वह अपने इस कर्त्तव्य के प्रति सावधान नहीं रहता और शिष्य पापकर्म में प्रवृत्त होता है तो उसका दोष गुरु के सिर पर मढ़ा जाता है। राजा, पुरोहित और पति का कर्त्तव्य है कि वे प्रजा, राजा,

पत्नी और शिष्य को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करें।

ऋणकर्ता पिता शत्रुः माता च व्यभिचारिणी।
भार्या रूपवती शत्रुः पुत्रः शत्रुरपण्डितः।।११।।

जो पिता अपनी सन्तान पर कर्जे का बोझ छोड़ जाता है वह सन्तान का शत्रु है। इसी प्रकार दुष्ट तथा पापकर्म में प्रवृत्त माता भी अपनी सन्तान की शत्रु मानी जाती है। अधिक सुन्दर स्त्री को भी चाणक्य ने पति का शत्रु माना है और मूर्ख पुत्र भी शत्रु के समान ही समझा जाता है।

कर्जा लेकर घर का खर्च चलाने वाला पिता शत्रु होता है, क्योंकि उसके मर जाने पर उस ऋण की अदायगी सन्तान को करनी पड़ेगी। व्यभिचारिणी मां शत्रु के रूप में निन्दनीय और त्याज्य है, क्योंकि वह अपने धर्म से गिर कर पिता और पति के कुल को कलंकित करती है। इसी प्रकार जो स्त्री अपने सौन्दर्य का अभिमान करके पति की उपेक्षा करती है, उसे भी शत्रु ही मानना चाहिए। मूर्ख पुत्र भी कुल का कलंक होता है। वह भी त्याज्य है। अपने उद्यम से परिवार का निर्वाह करने वाला पिता, पतिव्रता माता और अपने रूप और सौन्दर्य के प्रति अहंकार न रखने वाली स्त्री और विद्वान् पुत्र ही हितकारी होते हैं।

लुब्धमर्थेन गृह्णीयात् स्तब्धमञ्जलिकर्मणा।
मूर्खं छन्दोनुवृत्तेन यथार्थत्वेन पण्डितम्।।१२।।

लोभी व्यक्ति को धन का लालच देकर अपने वश में किया जा सकता है। हठी पुरुष को हाथ जोड़ कर, उसके सामने नत-मस्तक होकर उसे वश में कर लेना चाहिए। मूर्ख पुरुष के मन के अभिप्राय अथवा उसकी इच्छा की पूर्ति कर, उसे अपने वश में किया जा सकता है तथा विद्वान् व्यक्ति को स्थिति की सही जानकारी देकर अपने अनुकूल बनाया जा सकता है।

लोभी व्यक्ति धन का भूखा होता है। जैसे-तैसे वह धन की प्राप्ति चाहता है। इसलिए उसे धन देकर वश में कर लेना कुछ कठिन काम नहीं। मूर्ख व्यक्ति अपने अहंकार की संतुष्टि चाहता है। नम्रतापूर्वक उसे भी वश में किया जा सकता है। मूर्ख व्यक्ति के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि वह कब क्या इच्छा कर बैठे। इसलिए उसकी मन की इच्छा के अनुरूप कार्य करने से ही वह सन्तुष्ट हो सकता है, जबकि विद्वान् व्यक्ति वास्तविक स्थिति अथवा सच्ची बात कह देने से ही सन्तुष्ट हो जाता है।

वरं न राज्यं न कुराज्यराज्यं, वरं न मित्रं न कुमित्रमित्रम्।
वरं न शिष्यो न कुशिष्यशिष्यो, वरं न दारा न कुदारदाराः।।१३।।

किसी प्रदेश में न रहना अधिक अच्छा है किन्तु किसी दुष्ट राजा के राज्य में रहना अच्छा नहीं। दुष्ट मित्रों की बजाय कोई मित्र न होना अच्छा है। दुष्ट शिष्य की बजाय कोई शिष्य न होना अच्छा है। इसी प्रकार बुरी स्त्री के बजाय बिना स्त्री के रहना अच्छा है।

चाणक्य का कहना है कि व्यक्ति को चाहिए कि वह किसी अच्छे राज्य में रहे, योग्य और शिष्ट व्यक्तियों को ही मित्र बनाये और पात्र देखकर ही शिष्य धारण किया जाये और पतिव्रता तथा सदाचारिणी स्त्री से ही विवाह करना उत्तम है। जो व्यक्ति चाणक्य के इस मत के अनुरूप नहीं चलता, वह सदा दुःखी रहता है।

कुराजराज्येन कुतः प्रजासुखं, कुमित्रमित्रेण कुतो निवृत्तिः।
कुदारदारैश्च कुतो गृहे रतिः, कुशिष्यमध्यापयतः कुतो यशः।।१४।।

दुष्ट राजा के राज्य में प्रजा कभी सुख की आशा नहीं कर सकती। दुष्ट और नीच व्यक्ति से मित्रता करने पर किसी व्यक्ति का कल्याण नहीं हो सकता। दुराचारिणी स्त्री को पत्नी बनाने से गृहस्थ का आनन्द और सम्भोग-सुख प्राप्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार यदि दुष्ट व्यक्ति को शिष्य बनाया जायेगा तो उससे गुरु के यश में प्रसार नहीं होगा।

सुखी रहने के लिए अच्छे राजा के राज्य में रहना चाहिए, संकट से बचाव के लिए अच्छे व्यक्ति को मित्र बनाना चाहिए, रतिभोग के सुख के लिए कुलीन कन्या से विवाह करना चाहिए तथा कीर्तिलाभ के लिए योग्य पुरुष को शिष्य बनाना चाहिए।

सिंहादेकं बकादेकं शिक्षेच्चत्वारि कुक्कुटात्।
वायसात्पञ्च शिक्षेच्च षट् शुनस्त्रीणि गर्दभात्।।१५।।

चाणक्य ने बताया है कि मनुष्य किनसे क्या गुण सीख सकता है। उसे शेर और बगुले से एक-एक, गधे से तीन, मुर्गे से चार, कौए से पांच और कुत्ते से छः गुण सीखने चाहिएं।

इसका मूल भाव यह है कि व्यक्ति को जहां से भी कोई अच्छी बात मिले, सीखने में संकोच नहीं करना चाहिए। यदि नीच व्यक्ति के पास भी कोई गुण है तो उसे भी ग्रहण करने का यत्न करना चाहिए।

इन गुणों का वर्णन अगले चार श्लोकों में किया गया है।

प्रभूतं कार्यमल्पं वा यन्नरः कर्तुमिच्छति।
सर्वारम्भेण तत्कार्यं सिंहादेकं प्रचक्षते।।१६।।

कार्य छोटा हो अथवा बड़ा, एक बार हाथ में लेने पर उसे पूरा करने के लिए अपना पूरा सामर्थ्य लगा देना चाहिए। चाणक्य का कहना है कि यह एक गुण सिंह से सीखना आवश्यक है। किसी भी कार्य को महत्त्वहीन समझना और उसकी उपेक्षा करना अच्छी बात नहीं। कार्य की असफलता से व्यक्ति की कीर्ति को धक्का लगता है। उसके लिए यह अपमान की बात है। किसी भी कार्य को हाथ में लेने से पहले उसके गुण और दोष भली प्रकार समझ लेने चाहिएं, परन्तु एक बार काम हाथ में लेने पर उसे पूरा करके ही छोड़ना चाहिए।

इन्द्रियाणि च संयम्य बकवत् पण्डितो नरः।
देशकालबलं ज्ञात्वा सर्वकार्याणि साधयेत्।।१७।।

सफल और बुद्धिमान् व्यक्ति वही है जो बगुलों के समान अपनी सारी चित्तवृत्तियों को नियंत्रित करके एक स्थान, एक समय और अपनी शक्ति का अनुमान लगाकर कार्य को सिद्ध करने के लिए जुट जाता है। सभी जानते हैं कि बगुला जब अपने शिकार का ध्यान करता है तो उसे अन्य किसी बात का कोई खयाल नहीं रहता। यदि वह स्थान को उचित नहीं समझता और अपने शिकार के समय को प्रतिकूल पाता है तो अपनी गतिविधियां छोड़ देता है। वह अनुकूल समय और स्थान पर ही कार्य करता है। यह भी कहा जा सकता है कि वह कार्य करने से पूर्व अपनी सामर्थ्य का जायजा लेता है। इसी प्रकार मनुष्य को चाहिए कि कार्य करने से पूर्व उससे सम्बन्धित शक्तियों और ज्ञान का पूरी तरह से जायजा ले और एक बार कार्य को हाथ में लेने पर सफलतापूर्वक उसे सिद्ध करने का प्रयत्न करे।

सुश्रान्तोऽपि वहेद् भारं शीतोष्णं च न पश्यति।
सन्तुष्टश्चरति नित्यं त्रीणि शिक्षेच्च गर्दभात्।।१८।।

श्रेष्ठ और विद्वान् व्यक्तियों को चाहिए कि वे गधे से तीन गुण सीखें। गधा जिस प्रकार अत्यधिक थका होने पर भी बोझ ढोता रहता है, उसी प्रकार बुद्धिमान् व्यक्ति को भी आलस्य न करके अपने लक्ष्य की प्राप्ति और सिद्धि के लिए प्रयत्न करते रहना चाहिए, कर्त्तव्यपथ से कभी विमुख नहीं होना चाहिए। कार्यसिद्धि में ऋतुओं के सर्द और गर्म होने की भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। और जिस प्रकार गधा सन्तुष्ट होकर जहां-तहां चर लेता है, उसी प्रकार बुद्धिमान् व्यक्ति को भी सदा सन्तोष रख कर, फल की चिन्ता किए बिना, कर्म में प्रवृत्त रहना चाहिए।

प्रत्युत्थानं च युद्धं च संविभागं च बन्धुषु।

स्वयमाक्रम्य भुक्तं च शिक्षेच्चत्वारि कुक्कुटात्।।१९।।

विद्वान् और बुद्धिमान् व्यक्ति को कुक्कुट अर्थात् मुर्गे से चार गुण ग्रहण करने चाहिएं। मुर्गा प्रातः ही उठ कर बांग देता है, बुद्धिमान व्यक्ति को भी ठीक समय पर शैया का त्याग कर देना चाहिए। जिस प्रकार मुर्गा दूसरे मुर्गे से लड़ने के लिए हर समय तैयार रहता है, उसी प्रकार बुद्धिमान् व्यक्ति को भी अपने शत्रु से युद्ध करने के लिए सदा तैयार रहना चाहिए। मुर्गे का तीसरा गुण यह है कि वह जो भी चीज बाहर से लेकर आता है, अपने चूजों के साथ मिल-बांट कर खाता है, इसी प्रकार बुद्धिमान् व्यक्ति को भी करना चाहिए। मुर्गे का चौथा गुण यह है कि वह प्रेयसी को रतिक्रिया में संतुष्ट करता है।

अंग्रेजी में भी एक कहावत है कि जो व्यक्ति प्रातःकाल जल्दी उठता है, उसका स्वास्थ्य भी ठीक रहता है और समय पर कार्य प्रारम्भ कर देने से उसे धन की कमी भी नहीं रहती। जो व्यक्ति अपने शत्रु के प्रति सजग रहता है, उसे कभी नीचा देखने का अवसर नहीं मिलता। परिवार के लोगों के साथ मिल-बैठकर खाने से आपसी सम्बन्ध मधुर होते हैं और सद्भाव बढ़ता है। स्त्री को भी वही व्यक्ति अपने वश में रख सकता है जो उसे अपने बल से प्रभावित कर सके।

गूढ़ च मैथुन धाष्ट्र्यं काले काले च संग्रहम्।
अप्रमत्तमविश्वासं पञ्च शिक्षेच्च वायसात्।।२०।।

चाणक्य ने ये जो उदाहरण दिये हैं उनसे स्पष्ट है कि व्यक्ति को जहां से भी कोई अच्छी बात सीखने का अवसर मिले, सीख लेनी चाहिए। उन्होंने कौए में पांच गुण बताए हैं। वह एकान्त में मैथुन करता है; ढिठाई में कमाल करता है, उचित समय पर आने वाले दिनों के लिए वस्तुओं का संग्रह रखता है, वह न कभी आलस्य करता है और न कभी किसी पर विश्वास करता है।

मैथुन आदि क्रियाएं एकान्त में ही करनी चाहिएं। सबके सामने करने से आदमी का उद्धतपन प्रकट होने के अतिरिक्त उसके नपुंसक होने का भय भी रहता है। पति-पत्नी को एकान्त में और गुप्त रूप से ही संभोग करना चाहिए। यह प्रथा सभ्य समाज में प्रचलित है। जो व्यक्ति हर समय सावधान रहता है वह कभी पराभव को प्राप्त नहीं कर सकता। उसे अपने कार्यक्षेत्र में हमेशा सफलता प्राप्त होती है।

यह सम्भव हो सकता है कि भविष्य की चिन्ता न करने वाला व्यक्ति भले ही वर्तमान जीवन को सुखमय बना ले, परन्तु उसका भावी जीवन तो अत्यन्त

दुःखदायी ही होता है। अतः बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिए कि वह भविष्य के लिए कुछ न कुछ अवश्य जोड़ कर रखे ताकि भविष्य में आने वाली विपदाओं में वह धन काम आ सके।

आलस्य मनुष्य का शत्रु है, यह उसका सर्वनाश कर देता है। आलस्य को त्याग देना ही बुद्धिमान् व्यक्ति की बुद्धिमानी है। शास्त्रों में भी यह शिक्षा दी गई है कि आलसी का न तो वर्तमान सही होता है और न भविष्य ही। इसलिए बुद्धिमान् व्यक्ति को वर्तमान में दुःख-तकलीफ उठाकर भी अपना भविष्य सुखी बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

आचार्य चाणक्य कहते हैं कि अपनी गुप्त बात किसी को भी नहीं बतानी चाहिए, चाहे वह कितना ही आत्मीय जन क्यों न हो, क्योंकि जब एक बार भेद खुल जाता है तो यह भय लगा रहता है कि कहीं वह उसे किसी दूसरे को न बता दे। इस बात का कभी पता नहीं चलता कि व्यक्ति का मन कब बदल जाये और कब वह उसके भेद को प्रकट कर दे।

बह्वाशी स्वल्पसन्तुष्टः सुनिद्रो लघुचेतनः।
स्वामिभक्तश्च शूरश्च षडेते श्वानतो गुणाः।।२१।।

चाणक्य कहते हैं कि बुद्धिमान् व्यक्ति को कुत्ते से छः गुण सीखने चाहिएं। अधिक खाने की क्षमता होने पर भी जितना मिल जाये उससे सन्तुष्ट रहना चाहिए। कुत्ते में आदत होती है कि वह गहरी नींद सोता है, परन्तु उसके साथ ही वह इस प्रकार चौकन्ना भी रहता है कि जरा-सी आहट होने पर एकदम जाग जाता है। स्वामीभक्ति कुत्ते का सुप्रसिद्ध गुण है। उसका छठा अथवा अन्तिम गुण यह है कि वह शत्रु पर डटकर आक्रमण कर देता है और अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने के लिए सदैव तैयार रहता है।

मनुष्य को जो कुछ मिल जाए, जितना भी मिल जाए उसी से सन्तोष कर लेना चाहिए। अधिक खाने से यहां भावार्थ यह है कि अधिक अथवा बहुत अच्छा भोजन मिलने पर जिस प्रकार व्यक्ति को सन्तुष्टि मिलती है, उसी प्रकार थोड़ा अथवा रूखा-सूखा भोजन प्राप्त होने पर भी मिले। व्यक्ति का ऐसा स्वभाव होना चाहिए कि वह गहरी नींद ले सके,परन्तु उसे इस बात का अभ्यस्त भी होना चाहिए कि थोड़ी-सी आहट पाते ही वह फौरन सावधान हो जाए। व्यक्ति को अपने स्वामी के प्रति अपनी निष्ठा जताने का कोई अवसर हाथ से नहीं जाने देना चाहिए। इसके साथ ही उसे अपनी वीरता प्रकट करने के लिए भी सदैव उद्यत रहना चाहिए।

य एतान् विंशतिगुणानाचरिष्यति मानवः।
कार्याऽवस्थासु सर्वासु अजेयः स भविष्यति।।२२।।

जो व्यक्ति इन ऊपर बताए गए गुणों को धारण करने का प्रयत्न करता है, उन्हें अपना लेता है, वह जीवन में कभी भी किसी भी स्थिति में पराजित नहीं होता। उसे जीवन में सर्वत्र विजय प्राप्त होती है। ऐसे व्यक्ति में स्वाभिमान जागृत होता है और वह अपने प्रत्येक कार्य को निष्ठा और लगन से पूरा करके उन्नति को प्राप्त करता है।

सातवां अध्याय

अर्थनाशं मनस्तापं गृहिणीचरितानि च।
वञ्चनं चाऽपमानं च मतिमान्न प्रकाशयेत्।।१।।

बुद्धिमान् व्यक्ति वही है जिसमें कुछ सहन-शक्ति हो। वह अपने धन के नष्ट होने से प्राप्त दुःख, दुश्चरित्र पत्नी अथवा किसी व्यक्ति द्वारा ठगे जाने और नीच शब्दों का प्रयोग किए जाने से हुए दुःख को किसी पर प्रकट नहीं करता।

यह स्वाभाविक है कि व्यक्ति को धननाश पर मानसिक पीड़ा होती है। यदि पत्नी दुश्चरित्र हो, तो भी उसे व्यथा सहन करनी पड़ती है। यदि कोई दुष्ट उसे ठग लेता है अथवा कोई व्यक्ति उसका अपमान कर देता है तो भी उसे दुःख होता है। परन्तु बुद्धिमत्ता इसी में है कि मनुष्य इन सब बातों को चुपचाप बिना किसी दूसरे पर प्रकट किए सहन कर ले, क्योंकि जो इन बातों को दूसरों पर प्रकट करता है, अपमान के साथ-साथ लोग उसकी हंसी भी उड़ाते हैं। इसलिए उचित यही है कि इस प्रकार के अपमान को विष समझ कर चुपचाप पी जाए।

धनधान्यप्रयोगेषु विद्यासंग्रहणेषु च।
आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्जः सुखी भवेत्।।२।।

जो व्यक्ति धन-धान्य के लेन-देन में, विद्या अथवा किसी प्रकार के हुनर को सीखने में, खाने-पीने और हिसाब-किताब में संकोच नहीं करते वे सुखी रहते हैं।

मनुष्य के लिए उचित है कि वह लेन-देन में, लिखा-पढ़ी कर ले। विद्या के संग्रह में और खाने-पीने के मामले में भी यदि संकोच करेगा तो भी सम्बन्ध स्थिर नहीं रह पायेंगे। सम्बन्धियों से व्यवहार में भी मधुर, सत्य एवं स्पष्ट रहना चाहिए। अतः आवश्यक है कि व्यक्ति को संकोच छोड़ कर सदा सच्ची बात करनी चाहिए और व्यावहारिक मार्ग अपनाना चाहिए। पैसे के लेन-देन में

लिखा-पढ़ी आवश्यक है।

सन्तोषाऽमृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम्।
कुतस्तद् धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम्।।३।।

जो व्यक्ति सन्तोषरूपी अमृत से तृप्त हैं और शान्तचित्त रहते हैं उनसे बढ़कर सुखी कौन हो सकता है? धन के लोभ में इधर-उधर भागने वालों को शान्ति कहां प्राप्त हो सकती है ! ऐसे व्यक्ति सदैव तनावपूर्ण स्थिति में रहते हैं।

चाणक्य का मत है कि मनुष्य की तृष्णाओं का कोई अन्त नहीं। व्यक्ति की इच्छाएं निरन्तर बढ़ती रहती हैं। इस प्रकार इच्छाओं के बढ़ने से उसके जीवन में एक प्रकार का भटकाव बना रहता है। अतः चाणक्य का कहना है कि जो व्यक्ति जितना प्राप्त हो जाए उसमें सन्तोष कर लेता है, उसे ही सुख की प्राप्ति होती है।

सन्तोषस्त्रिषु कर्त्तव्यः स्वदारे भोजने धने।
त्रिषु चैव न कर्त्तव्योऽध्ययने जपदानयोः।।४।।

व्यक्ति को चाहिए कि वह अपनी स्त्री से ही सन्तोष करे, चाहे वह रूपवती हो अथवा साधारण, वह सुशिक्षित हो अथवा निरक्षर। इसी प्रकार व्यक्ति को जो भोजन प्राप्त हो जाय उसी से सन्तोष करना चाहिए। आजीविका से प्राप्त धन के सम्बन्ध में भी चाणक्य के यही विचार हैं। उनका कहना है कि व्यक्ति को असन्तोष में बड़बड़ाते नहीं रहना चाहिए। इससे उसकी मानसिक शान्ति नष्ट होती है और वह अपने-आपको निरन्तर दुःखी पाता है। इसके विपरीत चाणक्य का यह भी कहना है कि शास्त्रों के अध्ययन, प्रभु के नाम का स्मरण और दान-कार्य में कभी सन्तोष नहीं करना चाहिए। ये तीनों बातें अधिक से अधिक करने की इच्छा करनी चाहिए।

प्रायः ऐसा समझा जाता है कि जो कुछ व्यक्ति भाग्य में लिखा कर आया है, उसे प्रयत्न करने पर भी नहीं बदला जा सकता—मनुष्य को अपने भाग्य के अनुरूप ही पत्नी का साथ मिलता है; उसके भाग्य में जैसा रूखा-सूखा अथवा अच्छा भोजन लिखा है वैसा ही मिलेगा; इसी प्रकार वह अपने कार्य-व्यापार अथवा आजीविका को भी सरलता से नहीं बदल सकता। इसलिए यदि वह इन बातों के सम्बन्ध में सन्तोषपूर्वक जीवन बितांएगा तो उसे हानि नहीं होगी।

मनुष्य का जीवन पानी के बुलबुले के समान है। जो आज है, हो सकता है वह कल न रहे। अतः चाणक्य कहते हैं कि मनुष्य को चाहिए कि वह सदैव शुभ कार्यों में ही लगा रहे।

विप्रयोर्विप्रवह्न्योश्च दम्पत्योः स्वामिभृत्ययोः।
अन्तरेण न गन्तव्यं हलस्य वृषभस्य च।।५।।

चाणक्य कहते हैं कि दो ब्राह्मणों, अग्नि और ब्राह्मण, पति और पत्नी, स्वामी और सेवक तथा हल और बैल के बीच में से नहीं गुजरना चाहिए।

ऐसा माना जाता है कि जहां दो व्यक्ति खड़े अथवा बैठे हुए बात कर रहे हों, उनके बीच में से न निकल कर एक ओर से निकलना चाहिए। दो ब्राह्मणों के बीच में से न गुजरने का भाव यह है कि हो सकता है कि वे किसी शास्त्र-चर्चा में लगे हों। ब्राह्मण और अग्नि के बीच में से न गुजरने का अर्थ यह है कि ब्राह्मण ने अग्निहोत्र कर रखा हो। पति और पत्नी, स्वामी और सेवक जब कोई बात कर रहे हों तो न उनके पास जाना चाहिए और न उनके मध्य में से गुजरना चाहिए। इसी प्रकार हल और बैल के बीच में से गुजरने की भी मनाही है, क्योंकि इससे चोट लगने की सम्भावना रहती है। इसलिए दो व्यक्तियों के बीच में से गुजरने से अपमान के अतिरिक्त व्यक्ति के पीड़ित होने की सम्भावना भी रहती है।

पादाभ्यां न स्पृशेदग्निं गुरुं ब्राह्मणमेव च।
नैव गां न कुमारीं च न वृद्धं न शिशुं तथा।।६।।

चाणक्य का कहना है कि अग्नि, गुरु, ब्राह्मण, गौ, कुमारी कन्या, बूढ़े और बच्चे को कभी पैर नहीं लगाना चाहिए। उन्हें पैर से छूना अनुचित है। ऐसा करना उनके प्रति अनादर तो है ही, उपेक्षा-भाव को भी प्रकट करता है। इनको पैर से छूना अपनी मूर्खता का प्रदर्शन करना है क्योंकि ये सभी आदरणीय, पूज्य और प्रिय सम्बन्ध हैं।

शकटं पञ्चहस्तेन दशहस्तेन वाजिनम्।
हस्तिनं शतहस्तेन देशत्यागेन दुर्जनम्।।७।।

चाणक्य का विचार है कि बैलगाड़ी से पांच हाथ, घोड़े से दस हाथ और हाथी से सौ हाथ दूर रहना चाहिए, किन्तु दुष्ट व्यक्ति से बचने के लिए थोड़ा-बहुत अन्तर पर्याप्त नहीं। उसके सम्बन्ध में चाणक्य कहते हैं कि यदि आवश्यकता पड़े तो देश भी छोड़ा जा सकता है।

ऊपर बताई गई वस्तुओं से दूर रहने का तात्पर्य यह है कि गाड़ी में जुते हुए बैल आदि से चोट लग सकती है, घोड़ों से दुलत्ती आदि का भय रहता है, इसी प्रकार हाथी से भी दूर रहना उचित है, परन्तु दुष्ट व्यक्ति से तो इस प्रकार बचना चाहिए कि उसकी सूरत भी देखने को न मिले। इसलिए चाणक्य के मत

के अनुसार उससे बचने के लिए जहां वह रहता है, उस स्थान को भी त्याग देना चाहिए।

हस्ती अंकुशहस्तेन वाजी हस्तेन ताड्यते।
शृंगी लगुडहस्तेन खड्गहस्तेन दुर्जनः।।८।।

हाथी को चलाने के लिए अंकुश, घोड़े के लिए हाथ में एक चाबुक, सींग वाले बैल आदि पशु के लिए डण्डे की आवश्यकता होती है, परन्तु दुष्ट व्यक्ति सरलता से वश में नहीं आता। वह मामूली ताड़ना से भी वश में नहीं आता। उसके लिए तो हाथ में तलवार लेनी पड़ती है। चाणक्य कहते हैं कि उसे सीधे रास्ते पर लाने के लिए कभी-कभी उसकी हत्या भी कर देनी पड़ती है।

यह सब कहने का अभिप्राय यह है कि दुष्ट व्यक्ति में जो बुरी आदतें और स्वभाव पड़ गए हैं, उन्हें सरलता से दूर नहीं किया जा सकता। उन्हें सुधारना बहुत टेढ़ी खीर है।

तुष्यन्ति भोजने विप्रा मयूराः घनगर्जिते।
साधवः परसम्पत्तौ खलाः परविपत्तिषु।।९।।

ब्राह्मण केवल भोजन से तृप्त हो जाते हैं और मोर बादल के गर्जने-भर से सन्तुष्ट हो जाता है, संत और सज्जन व्यक्ति दूसरे की समृद्धि देखकर प्रसन्न होते हैं, परन्तु दुष्ट व्यक्ति को तो प्रसन्नता तभी होती है, जब वे किसी दूसरे को संकट में पड़ा हुआ देखते हैं।

ब्राह्मण अपने यजमान की समृद्धि की कामना करता है। उसके बदले में केवल उसे सामान्य भोजन की इच्छा रहती है। आकाश में मेघों के घिर आने पर मयूर प्रसन्न होकर नाचने लगता है। संत लोग किसी से किसी प्रकार की अभिलाषा न करते हुए सबके लिए सुख-समृद्धि की कामना करते हैं। उसके विपरीत दुष्ट व्यक्ति दूसरों को संकट में पड़ा हुआ देखकर ही प्रसन्न होते हैं।

अनुलोमेन बलिनं प्रतिलोमेन दुर्जनम्।
आत्मतुल्यबलं शत्रुं विनयेन बलेन वा।।१०।।

यदि शत्रु अपने से बलवान् प्रतीत होता हो तो उसे विनयपूर्वक व्यवहार करके वश में करना चाहिए। यदि दुष्ट व्यक्ति से सामना पड़े तो उसके साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसा वह स्वयं दूसरों से करता है—अर्थात् बुरे के प्रति बुरा व्यवहार उचित है। यदि उससे विनय-प्रदर्शन किया जायेगा तो उसकी उद्दण्डता और बढ़ जायेगी। वह सज्जनता को दुर्बलता समझने लगेगा।

आचार्य चाणक्य का मत है कि यदि शत्रु अपने से अधिक बलवान् हो तो उसके साथ विनय और दुष्ट शत्रु को बल-प्रयोग द्वारा वश में किया जाये। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य को समय के अनुरूप बल अथवा विनय का प्रयोग करना चाहिए।

बाहुवीर्यं बल राज्ञो ब्राह्मणो ब्रह्मविद् बली।
रूपयौवनमाधुर्यं स्त्रीणां बलमुत्तमम्।।११।।

राजा की शक्ति उसका बाहुबल, ब्राह्मण की शक्ति उसका तत्त्वज्ञान स्त्रियों की शक्ति उनका सौन्दर्य और मधुरता है।

जहां राजाओं की शक्ति उनकी सेनाओं में होती है, वहां चाणक्य ने यह भी माना है कि ब्राह्मणों की शक्ति उनके तत्त्वज्ञान में है। स्त्रियों की शक्ति उनके सौन्दर्य और आकर्षक व्यवहार में होती है।

वैसे तो सेना को राजा की शक्ति माना गया है, किन्तु चाणक्य का कहना है कि राजा को स्वयं भी शारीरिक रूप से शक्तिशाली होना चाहिए। इसी प्रकार स्त्रियों की शक्ति उनका यौवन, सौन्दर्य और कुशल व्यवहार होता है। वे अपने इन गुणों के कारण बड़े-बड़े तपस्वियों को भी अपने वश में कर सकती हैं।

नाऽत्यन्तं सरलैर्भाव्यं गत्वा पश्य वनस्थलीम्।
छिद्यन्ते सरलास्तत्र कुब्जास्तिष्ठन्ति पादपाः।।१२।।

इस संसार में अत्यन्त सीधा और सरल होना भी अच्छा नहीं। कवि लोग इस बात का उदाहरण वनों से देते हैं। उनका कहना है कि जंगल में जाकर देखिए कि सीधे खड़े हुए वृक्षों को मनुष्य अपने काम के लिए जल्दी काट लेता है और टेढ़े-मेढ़े वृक्षों को छोड़ देता है। इसका अर्थ यह है कि संसार टेढ़े व्यक्तियों से डरता है और सीधे व्यक्तियों को उल्लू समझकर उनसे मनमानी करता है। इसलिए चाणक्य के मत के अनुसार व्यक्ति को इतना अधिक सरल और सीधा नहीं होना चाहिए कि जो भी चाहे उसे धोखा दे सके।

यत्रोदकं तत्र वसन्ति हंसाः, स्तथैव शुष्कं परिवर्जयन्ति।
न हंसतुल्येन नरेणभाव्यम्, पुनस्त्यजन्ते पुनराश्रयन्ते।।१३।।

जिस तालाब में पानी ज्यादा होता है हंस वहीं निवास करते हैं। यदि वहां का पानी सूख जाता है तो वे उसे छोड़ कर दूसरे स्थान पर चले जाते हैं। जब कभी वर्षा अथवा नदी से उसमें पुनः जल भर जाता है तो वे फिर वहां लौट आते हैं। इस प्रकार हंस अपनी आवश्यकता के अनुरूप किसी जलाशय को छोड़ते अथवा उसका आश्रय लेते रहते हैं।

इस श्लोक से चाणक्य का अर्थ यह है कि मनुष्य को हंस के समान व्यवहार नहीं करना चाहिए। उसे चाहिए कि वह जिसका आश्रय एक बार ले उसे कभी न छोड़े। और यदि किसी कारणवश छोड़ना भी पड़े तो फिर लौट कर वहां नहीं आना चाहिए। अपने आश्रयदाता को बार-बार छोड़ना और उसके पास लौट कर आना मानवता का लक्षण नहीं है। मैत्री या सम्बन्ध स्थापित करने के बाद उन्हें भंग करना उचित नहीं।

उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणम्।
तड़ागोदरसंस्थानां परिस्राव इवाम्भसाम्।।१४।।

बहुत समय से पानी से भरे हुए तालाब को सड़ांध, दुर्गन्ध और कीचड़ से बचाने के लिए आवश्यक है कि उसके पानी को बदला जाये। इसी प्रकार बहुत यत्न से जोड़े हुए धन को भी दान देने से ही बचाया जा सकता है। इसका अर्थ यह है कि लक्ष्मी का स्वभाव चंचल है, वह स्थिर नहीं रह सकती। संचित धन कभी न कभी वैसे भी नष्ट होगा, इसलिए उसे नष्ट होने से बचाने के लिए उसे दान देते रहना चाहिए। इससे परलोक भी सुधरता है और दूसरों की सहायता भी होती है।

स्वर्गस्थितानामिह जीवलोके, चत्वारि चिह्नानि वसन्ति देहे।
दानप्रसंगो मधुरा च वाणी, देवाऽर्चनम् ब्राह्मणतर्पणं च।।१५।।

स्वर्ग से भूलोक पर उतरे हुए दिव्य पुरुष जब जन्म लेते हैं तो उनकी पहचान उनके चार प्रमुख गुणों से होती है। उनमें दान देने की प्रवृत्ति होती है, वे सदैव मधुर और मीठी वाणी बोलते हैं, वे देवताओं की पूजा-अर्चना करते हैं और ब्राह्मणों को भोजन और वस्त्र आदि देकर उन्हें प्रसन्न करने का यत्न करते हैं।

मधुर वाणी बोलने वाले, दान देने वाले, श्रेष्ठ पुरुषों और देवताओं की पूजा करने वाले, ब्राह्मण-भक्त व्यक्ति ही स्वर्ग से उतरे हुए श्रेष्ठ प्राणी कहलाने के अधिकारी हैं।

भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है कि देवताओं के पुण्य जब क्षीण होने लगते हैं तो वे इस धरती पर जन्म लेते हैं और वे उच्च वर्ण में उत्पन्न होते हैं। उनमें ये उपर्युक्त चार गुण होते हैं।

इस श्लोक का अभिप्राय यह भी है कि इन गुणों से युक्त व्यक्ति पृथिवी पर रहते हुए भी स्वर्ग में निवास करते प्रतीत होते हैं, अर्थात् उन्हें अपने कर्मों द्वारा पृथिवी पर ही स्वर्ग के सभी सुख प्राप्त हो जाते हैं।

अत्यन्तक्रोपः कटुका च वाणी, दरिद्रता च स्वजनेषु वैरम्।
नीचप्रसंगः कुलहीनसेवा, चिह्नानि देहे नरकस्थितानाम्।।१६।।

अत्यन्त क्रोध करना, कड़वी वाणी बोलना, दरिद्रता और अपने सगे सम्बन्धियों से वैर-विरोध करना, नीच पुरुषों का संग करना, छोटे कुल के व्यक्ति की नौकरी अथवा सेवा करना—ये छः दुर्गुण ऐसे हैं जिनसे पृथिवीलोक में ही नरक के दुःखों का आभास हो जाता है। अर्थात् जिन प्राणियों में ये छः दुर्गुण देखने को मिलते हैं, मानो वे इस पृथिवी पर नरक का दुःख भोगने के लिए आए हैं।

इस श्लोक का अर्थ यह है कि क्रोध, कड़वी बात, द्वेष, कुसंग, दरिद्रता और नीच व्यक्ति की सेवा दुष्ट लोगों के लक्षण हैं। इन दुर्गुणों के कारण वे यहीं पर नरक के समान यातना भोगते रहते हैं।

गम्यते यदि मृगेन्द्र-मन्दिरं-लभ्यते करिकपालमौक्तिकम्।
जम्बुकालयगते च प्राप्यते, वत्सपुच्छ-खरचर्म-खण्डनम्।।१७।।

व्यक्ति यदि कभी सिंह की गुफा में पहुंच जाय, तो सम्भव है कि हाथी के मस्तक की मणि जिसे गजमुक्ता कहा जाता है भी मिल जाये; परन्तु यदि वह गीदड़ की मांद में चला जाये तो उसे बछड़े की पूंछ अथवा गधे के चमड़े के सूखे टुकड़ों के सिवाय और कुछ नहीं मिलेगा।

चाणक्य का यह कहना है कि साहसी और शूरवीरों की संगति में खतरा होने पर भी दुर्लभ रत्न मिल सकते हैं, किन्तु ठगों और कायरों की संगति से कुछ नहीं मिलता।

शुनः पुच्छमिव व्यर्थं जीवितं विद्यया विना।
न गुह्यगोपने शक्तं न च दंशनिवारणे।।१८।।

जिस प्रकार कुत्ते की पूंछ से न तो उसके गुप्त अंग छिपते हैं और न वह मच्छरों को काटने से रोक सकती है, इसी प्रकार विद्या से रहित जीवन भी व्यर्थ है। क्योंकि विद्याविहीन मनुष्य मूर्ख होने के कारण न अपनी रक्षा कर सकता है, न अपना भरण-पोषण। वह न अपने परिवार की दरिद्रता को दूर कर सकता है और न शत्रुओं के आक्रमण को ही रोकने में समर्थ हो सकता है।

वाचः शौचं च मनसः शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
सर्वभूते दया शौचं एतच्छौचं पराऽर्थिनाम्।।१९।।

बोलचाल अथवा वाणी में पवित्रता, मन की स्वच्छता और यहां तक कि इन्द्रियों को वश में रख कर पवित्र रहने का भी कोई महत्त्व नहीं जब तक कि

मनुष्य के मन में जीवमात्र के लिए दया की भावना उत्पन्न नहीं होती। सचाई यह है कि परोपकार ही सच्ची पवित्रता है। बिना परोपकार की भावना के मन, वाणी और इन्द्रियां पवित्र नहीं हो सकतीं। व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने मन में दया और परोपकार की भावना को बढ़ाये।

पुष्पे गन्धं तिले तैलं काष्ठेऽग्निं पयसि घृतम्।
इक्षौ गुडं तथा देहे पश्याऽऽत्मानं विवेकतः।।२०।।

जिस प्रकार फूल में गन्ध, तिलों में तेल, लकड़ी में आग, दूध में घी, गन्ने में मिठास आदि दिखाई न देने पर भी विद्यमान हैं, उसी प्रकार मनुष्य के शरीर में दिखाई न देने वाली आत्मा का निवास है। यह रहस्य ऐसा है कि इसे विवेक से ही समझा जा सकता है।

मनुष्य को चाहिए कि वह इस रहस्य को समझने का प्रयास करे कि वह शरीर न होकर आत्मा है। आत्मरूपी तत्त्व इस देह में उसी प्रकार विद्यमान है जिस प्रकार फूलों में गन्ध, तिलों में तेल और लकड़ी में अग्नि तथा गन्ने में मिठास और दूध में घी विद्यमान होने पर भी दिखाई नहीं देते।

आठवां अध्याय

अधमा धनमिच्छन्ति धनमानौ च मध्यमाः।
उत्तमा मानमिच्छन्ति मानो हि महतां धनम्।।१।।

अधम, नीच व छोटे व्यक्ति इस संसार में धन को ही महत्त्व देते हैं। वे जैसे-तैसे धन इकट्ठा करना चाहते हैं; उन्हें जैसे-तैसे धन मिलना चाहिए। धन पाना ही उनके जीवन का उद्देश्य होता है। बीच के, मध्यम स्तर के व्यक्ति धन के साथ मान को भी महत्त्व देते हैं। उन्हें धन तो चाहिए, परन्तु सम्मान-सहित। इस प्रकार धन और मान उनके जीवन के लक्ष्य होते हैं। इन दोनों के विपरीत उत्तम पुरुष धन की अपेक्षा सम्मान-प्राप्ति को ही अधिक महत्त्व देते हैं। उनके जीवन का लक्ष्य सम्मान प्राप्त करना होता है और इसे ही वे सबसे बड़ा धन समझते हैं। उनकी दृष्टि में जिसकी समाज में सम्मान-प्रतिष्ठा नहीं, उसका जीवन ही व्यर्थ है। वस्तुतः सम्मानित व्यक्ति की मानहानि तो मृत्यु से भी अधिक दुःखद होती है। वह अपमान की बजाय मौत को अधिक अच्छा समझता है।

इक्षुरापः पयो मूलं ताम्बूलं फलमौषधम्।
भक्षयित्वापि कर्तव्याः स्नानदानादिकाः क्रियाः।।२।।

गन्ना और गन्ने का रस, पानी, दूध, जड़ी-बूटी, पान, फल तथा औषध आदि का सेवन करने के उपरान्त भी सन्ध्यापूजन, दान-तर्पणादि नित्यकर्म किये जा सकते हैं।

अभिप्राय यह है कि यदि कोई रोगी है, बेचैन है, तृषापीड़ित है या क्षुधाग्रस्त है तो उसे स्नान व सन्ध्योपासन से पूर्व औषध, दुग्ध, जल तथा फल आदि के सेवन की कोई मनाही नहीं। इनके ग्रहण के उपरान्त भी यदि वह दान, पूजा आदि शुभ कर्म करता है तो वह पापकर्म का भागी नहीं होता। शास्त्र व्यक्ति को इस प्रकार की सुविधा प्रदान करता है।

बहुत से व्यक्ति स्नान-ध्यान किये बिना कोई चीज ग्रहण नहीं करते, परन्तु चाणक्य के अनुसार फलों का रस, औषधियां, दूध आदि का सेवन आवश्यकता पड़ने पर स्नान आदि से पूर्व भी किया जा सकता है और उसके बाद शुभकार्य करने में कोई दोष नहीं।

दीपो भक्षयते ध्वान्तं कज्जलं च प्रसूयते।
यदन्नं भक्ष्यते नित्यं जायते तादृशी प्रजा।।३।।

दीपक अंधेरा खाता है अर्थात् उसे दूर करता है और उससे काजल पैदा होता है। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि मनुष्य जैसा अन्न (ईमानदारी से कमाया शुद्ध और सात्त्विक अथवा बेईमानी व छल-कपट से कमाया अशुद्ध और तामसिक) भोजन खाता है, उसकी सन्तान वैसी ही उत्पन्न होती है। सात्त्विक अन्न खाने वाले व्यक्ति की सन्तान सद्गुण-सम्पन्न होती है और तामसिक अन्न खाने वाले व्यक्ति की सन्तान दुर्गुणों का भण्डार होती है।

स्पष्ट है कि उत्तम सन्तान को जन्म देने के लिए मनुष्य को ईमानदारी से कमाया हुआ शुद्ध और सात्त्विक अन्न ही खाना चाहिए।

सामान्य कथन है कि जैसा खाये अन्न, वैसा होवे मन, इसलिए व्यक्ति को शुद्ध सात्त्विक भोजन ही करना चाहिए।

चाण्डालानां सहस्रेषु सूरिभिस्तत्त्वदर्शिभिः।
एको हि यवनः प्रोक्तो न नीचो यवनात्परः।।४।।

तत्त्वदर्शी महर्षियों ने यवन अर्थात् म्लेच्छ अथवा धर्मविरोधी व्यक्ति को हजारों चाण्डालों के समान बताया है। हजारों चाण्डाल मिल कर जो उपद्रव करते हैं, उससे बढ़कर उपद्रव अकेला एक यवन करता है। वस्तुतः महात्मा लोग इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि यवन से बढ़कर संसार में कोई और बड़ा नीच नहीं है। इसलिए उससे तो सर्वथा दूर ही रहना चाहिए।

सम्भावना है कि यवनों के प्रति आर्यों के जातिगत द्वेष के कारण ही ऐसा लिखा गया है। पर हमारे विचार में वहां यवन का अर्थ अधर्माचरण करने वाला ही मानना चाहिए।

वित्तं देहि गुणान्वितेषु मतिमन्नान्यत्र देहि क्वचित्,
प्राप्तं वारिनिधेर्जलं घनमुखे माधुर्ययुक्तं सदा।
जीवान् स्थावरजंगमांश्च सकलान् संजीव्य भूमण्डलम्,
भूयः पश्य तदेव कोटिगुणितं गच्छन्तमम्भोनिधिम्।।५।।

आचार्य ने इस श्लोक में दान की महिमा का वर्णन किया है। वे कहते हैं कि गुणवान् को दिया गया धन देने वाले के पास सहस्रगुना बनकर लौट आता है, अतः दाता व्यक्तियों को सम्बोधित करते हुए आचार्य लिखते हैं—बुद्धिमान् व्यक्तियो ! सदैव गुणी व्यक्तियों को ही धन का दान करना चाहिए, कहीं अन्यत्र अर्थात् गुणहीन व्यक्तियों को दान कभी नहीं देना चाहिए। इसी तथ्य को एक-एक उदाहरण के द्वारा समझाते हुए चाणक्य कहते हैं—समुद्र द्वारा गुणी मेघ को दिया गया खारा जल मेघ के मुख में जाते ही मीठा बन जाता है। मेघ उस जल की वर्षा करके भूमण्डल के सभी जड़-चेतन प्राणियों को जीवन प्रदान करता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि वर्षा से अन्नादि की उत्पत्ति होती है। वर्षा के रूप में मेघ द्वारा बरसाया जल समुद्र द्वारा मेघ को दिये जल की अपेक्षा करोड़ों गुणा बढ़कर होता है और फिर उसी समुद्र में पहुंच जाता है।

समुद्र ने गुणी मेघ को जल का दान करके एक ओर अपने खारे जल को मीठा बना दिया, दूसरी ओर जड़-चेतन को जीवन प्रदान करने का पुण्य भी अर्जन किया तथा दिये गये जल से अधिक परिमाण में जल पुनः प्राप्त कर लिया। इस प्रकार स्पष्ट है कि गुणी को दिया गया दान ही सफल होता है। अतः गुणवान् को ही दान देना चाहिए, गुणहीन को नहीं। दान देने से व्यक्ति को प्रसन्नता प्राप्त होती है।

तैलाभ्यंगे चिताधूमे मैथुने क्षौरकर्मणि।
तावद्भवति चाण्डालो यावत् स्नानं नाचरेत्।।६।।

तेल की मालिश करने पर, चिता का धुआं लगने पर, सम्भोग करने तथा हजामत बनवाने के बाद व्यक्ति जब तक स्नान नहीं कर लेता, तब तक वह अस्पृश्य अर्थात् अपवित्र रहता है। इन स्थितियों में स्नान से ही व्यक्ति की शुद्धि होती है। यह स्वास्थ्य का नियम भी है, परन्तु सम्भोग के तुरन्त बाद स्नान करने में हानि होती है।

अजीर्णे भेषजं वारि जीर्णे वारि बलप्रदम्।
भोजने चामृतं वारि भोजनान्ते विषं भवेत्।।७।।

बदहजमी, अजीर्ण-अपच हो जाने पर जल का सेवन दवाई का काम करता है अर्थात् अपच को दूर करता है। अन्न के पच जाने पर जल का सेवन बलवर्द्धक होता है। भोजन के बीच में जल का पीना अमृत सदृश होता है अर्थात् उससे भूख भी बढ़ती है, भोजन में रुचि भी उत्पन्न होती है और भोजन पचता भी है, किन्तु भोजन के बाद जल पीने से वह विष के समान हानिकारक होता है।

अभिप्राय यह है कि अपच में, भोजन पच जाने पर तथा भोजन के बीच तो जल का सेवन लाभप्रद है, परन्तु भोजन समाप्त करते ही अधिक जल पीना हानिकारक है, अतः ऐसा नहीं करना चाहिए।

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हतश्चाज्ञानतो नरः।
हतं निर्नायकं सैन्यं स्त्रियो नष्टा ह्यभर्तृकाः।।८।।

यदि व्यक्ति ज्ञान के अनुरूप आचरण नहीं करता तो वह ज्ञान व्यर्थ है और अज्ञानी मनुष्य का तो जीवन वैसे ही व्यर्थ माना जाता है, क्योंकि उसे कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का ज्ञान नहीं होता। सेनापति के बिना सेना व्यर्थ है और पुरुष अर्थात् पति के बिना स्त्री का जीवन व्यर्थ है।

यदि पढ़-लिख कर मनुष्य अच्छे आचरण नहीं करता तो उसकी जानकारी का क्या लाभ है? अज्ञानी के जीवन को इसीलिए व्यर्थ कहा गया है कि ज्ञानी पुरुष के कभी तो संभलने की सम्भावना रहती है, परन्तु जिसे ज्ञान ही नहीं, वह भला क्या संभलेगा!

सेनापति से विहीन सेना कुछ भी करने में समर्थ नहीं होती तथा जिन स्त्रियों के सिर पर पति का साया नहीं रहता, वे बेचारी भी दुष्टों द्वारा सतायी जाने पर पथभ्रष्ट हो जाती हैं और उनका जीवन कहीं का नहीं रहता।

वृद्धकाले मृता भार्या बन्धुहस्ते गतं धनम्।
भोजनं च पराधीनं तिस्रः पुंसां विडम्बना।।९।।

बुढ़ापे में पत्नी का मर जाना, भाई-बन्धुओं द्वारा धन को हड़प लेना तथा भोजन के लिए दूसरे के अधीन रहना—ये तीनों बातें पुरुषों के लिए अत्यन्त दुःखदायक होती हैं।

यह सर्वजनविदित सत्य है कि पुरुष के बुढ़ापे के सच्चे साथी के रूप में उसकी पत्नी, उसके अपने हाथ में धन तथा भोजन की सुविधा होनी ही चाहिए।

वृद्धावस्था एक प्रकार से संकट की घड़ी होती है। आदमी को चाहिए कि इस समय के लिए कुछ धन बचा कर रखे।

नाग्निहोत्रं विना वेदा न च दानं विना क्रिया।
न भावेन विना सिद्धिस्तस्माद् भावो हि कारणम्।।१०।।

अग्निहोत्र, यज्ञ-यागादि के बिना वेदों का अध्ययन निरर्थक है अर्थात् वेदों के पढ़ने का लाभ यही है कि यज्ञादि करके देव-पूजन किया जाय। दान के बिना यज्ञ-यागादि शुभ कर्म सम्पन्न नहीं होते, जिसके बिना यज्ञ पूर्ण ही नहीं माना

जाता, परन्तु यदि दान बिना श्रद्धा-भाव या दिखावे के लिए संसार में यश कमाने, वाहवाही लूटने के लिए अथवा किसी और विवशता में फंसने पर किया जाता है तो उससे कभी अभीष्ट कार्य की सिद्धि नहीं होती। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य की भावना ही प्रधान होती है। शुद्ध भावना से किये गए यज्ञ-यागादि से ही मनुष्य को निश्चित रूप से अभीष्ट लाभ होता है, अतः श्रद्धा-भाव से ही शुभकर्मों का सम्पादन करना चाहिए।

चाणक्य फिर यहां श्रेष्ठ मानव की महत्ता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि देवता का वास न लकड़ी में है और न ही पत्थर में। प्रायः लकड़ी, तांबे और पत्थर की मूर्तियां बनाई जाती हैं, इसलिए इन पदार्थों का नाम लिया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि लकड़ी अथवा पत्थर से बनी देवविशेष की मूर्ति में देवविशेष का निवास नहीं होता। वस्तुतः देवता का निवास तो मनुष्य की भावना में होता है, उसके हृदय में होता है। यदि भावना है तो देवमूर्ति साक्षात् देव है, अन्यथा साधारण लकड़ी-पत्थर के अतिरिक्त उसमें कुछ नहीं। इस प्रकार निश्चित है कि मूर्ति में देवता की प्रतिष्ठा का आधार भावना ही है। भावना ही प्रतिमा में देवबुद्धि उत्पन्न करती है।

काष्ठ-पाषाण-धातूनां कृत्वा भावेन सेवनम्।
श्रद्धया च तयां सिद्धिस्तस्य विष्णोः प्रसादतः।।१२।।

लकड़ी, पत्थर और धातु—सोना, चांदी, तांबा, पीतल आदि की बनी देवमूर्ति में देव-भावना अर्थात् देवता को साक्षात् रूप से विद्यमान समझ कर ही श्रद्धासहित उसकी अर्चना-पूजा करनी चाहिए। जो मनुष्य जिस भाव से मूर्ति का पूजन करता है, श्री विष्णुनारायण की कृपा से उसे वैसी ही सिद्धि प्राप्त होती है।

इस प्रकार अभीष्ट से यहां तात्पर्य किसी भी प्राणी के अहित से कदापि नहीं, क्योंकि किसी दूसरे का अनिष्ट सोचने से व्यक्ति स्वयं अपना अहित करता है।

शान्तितुल्यं तपो नास्ति न सन्तोषात् परंसुखम्।
न तृष्णायाः परा व्याधिर्न च धर्मो दयापरः।।१३।।

शान्ति अर्थात् आवेग-उद्वेग पर काबू पाने के समान दूसरा कोई उत्कृष्ट तप अर्थात् कष्ट सहन करना नहीं, सन्तोष अर्थात् सहज में प्राप्त वस्तु से प्रसन्नता जैसा दूसरा कोई सुख नहीं, तृष्णा अर्थात् अधिक से अधिक पाने की चाह जैसा दूसरा कोई घटिया और दुःख देने वाला रोग नहीं तथा दया अर्थात् दूसरों के दुःख से द्रवित होने जैसा कोई बढ़िया दूसरा कोई धर्म नहीं।

मानव को चाहिए कि वह शान्त रहे, सन्तोष से कार्य करे, धन का संग्रह

करे, अधिक प्राप्ति की चाह छोड़ दे और दयारूपी धर्म का पालन करे। क्रोध अथवा गुस्सा साक्षात् यम का स्वरूप है अर्थात् क्रोधी को मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ ही समझना चाहिए। तृष्णा यमलोक के मार्ग में पड़ने वाली वैतरणी नदी के समान है, शास्त्रों में जिसे पार करना अत्यन्त दुष्कर बताया गया है अर्थात् अधिक लालच से आदमी को दुःख ही उठाना पड़ता है। विद्या सभी मनोरथों को पूरा करने वाली कामधेनु है और सन्तोष इन्द्र के नन्दनवन के समान असीम सुखद और मोहक है।

अभिप्राय यह है कि क्रोध और तृष्णा का त्याग करना चाहिए तथा विद्या और सन्तोष को अपनाना चाहिए, तभी मनुष्य सुखी रह सकता है।

गुणो भूषयते रूपं शीलं भूषयते कुलम्।
सिद्धिर्भूषयते विद्यां भोगो भूषयते धनम्।।१५।।

रूप की शोभा गुणों से होती है। यदि कोई सुन्दर व्यक्ति गुणहीन है तो उसका रूप-सौन्दर्य भी उपेक्षित और महत्त्वहीन हो जाता है। कुल की शोभा शील अर्थात् अच्छे आचरण से होती है। उच्च कुल का व्यक्ति यदि निकृष्ट आचरण करता है तो उसका कुल कलंकित हो जाता है। विद्या की शोभा धनप्राप्ति से होती है। जिस विद्या से आजीविका नहीं चल सकती, वह विद्या निरर्थक ही होती है। इसी प्रकार धन की शोभा उसके भोगने से होती है। यदि मनुष्य धन का उपभोग नहीं करता और उस पर सांप के समान बैठा रहता है अथवा चाहने पर भी उसका उपभोग नहीं कर पाता तो उस धन की उपयोगिता कुछ भी नहीं होती।

धन के उपभोग से अर्थ यह नहीं कि उसे उजाड़ा या गलत कामों में प्रयोग किया जाय। इसका भाव है कि उसे अच्छे कामों के लिए प्रयुक्त करना चाहिए। अभावग्रस्त परिजनों अथवा बन्धु-बान्धवों के लिए धन खर्च करना उसका सदुपयोग है।

निर्गुणस्य हतं रूपं दुःशीलस्य हतं कुलम्।
असिद्धस्य हता विद्या ह्यभोगेन हतं धनम्।।१६।।

गुणहीन पुरुष की सुन्दरता, दुराचारी पुरुष का उच्चकुल में उत्पन्न होना, आजीविका सुलभ न कराने वाली विद्या और उपभोग में न आने वाला धन व्यर्थ ही है। इनकी न कोई उपयोगिता है और न इनका कोई महत्त्व ही है।

व्यक्ति को चाहिए कि वह गुणों का संग्रह करे, शील आचरण करे, अपनी विद्या का सदुपयोग करे और धन पर कुण्डली मार कर न बैठे।

शुद्धं भूमिगतं तोयं शुद्धा नारी पतिव्रता।
शुचिः क्षेमकरो राजा सन्तोषी ब्राह्मणः शुचिः।।१७।।

पृथिवी के गर्भ से निकलने वाला जल शुद्ध-पवित्र होता है, पतिव्रता स्त्री शुद्ध-पवित्र होती है, प्रजा का कल्याण करने वाला राजा पवित्र अथवा श्रेष्ठ माना गया है और सन्तोषी यानि सहज प्राप्ति में प्रसन्न-ब्राह्मण शुद्ध-पवित्र होता है। सन्तोष सभी के लिए उत्तम है।

असन्तुष्टाः द्विजा नष्टाः सन्तुष्टाश्च महीभृतः।
सलज्जा गणिका नष्टाः निर्लज्जाश्च कुलांगना।।१८।।

असन्तोषी अर्थात् लोभ से प्रेरित होकर, धन के पीछे भागने वाले ब्राह्मण आदर के पात्र नहीं रहते। लोग उनसे मुंह फेर लेते हैं और उनकी महत्ता जाती रहती है। सन्तोषी, महत्त्वाकांक्षा से रहित, आलसी और सुस्त राजा भी शीघ्र नष्ट हो जाता है, क्योंकि वह अपने राज्य से सन्तुष्ट होने के कारण साहस और पराक्रम को नहीं अपनाता और इसका परिणाम यह होता है कि शत्रु उसे घेर लेते हैं और वह नष्ट हो जाता है।

लज्जा-संकोच करने वाली वेश्या अपने ग्राहकों को भली प्रकार प्रसन्न नहीं कर पाती और उससे उसका धन्धा चौपट हो जाता है। इसके विपरीत लज्जा, संकोच न करने वाली कुलीन स्त्री अपनी चंचलता के कारण दूसरे की विषय-वासना का शिकार होकर नष्ट और अपमानित होती है।

स्पष्ट है कि ब्राह्मण को सन्तोषी, राजा को महत्त्वाकांक्षी, वेश्या को निर्लज्ज और परिवार की सद्गृहस्थ स्त्री को शील-संकोच की देवी होना चाहिए।

किं कुलेन विशालेन विद्याहीनेन देहिनाम।
दुष्कुलीनोऽपि विदुषो देवैरपि सुपूज्यते।।१९।।

अनपढ़, विद्या से रहित उच्च कुल में उत्पन्न निर्गुणी व्यक्ति से लोगों को क्या लाभ हो सकता है? सत्य तो यह है कि छोटे कुल में उत्पन्न व्यक्ति यदि विद्वान् है तो देवता भी उसकी पूजा करते हैं। इसका अर्थ यह है कि महत्त्व विद्या का है, वंश का नहीं। हां, यदि वंश भी श्रेष्ठ हो और व्यक्ति विद्वान् और चरित्रवान् भी हो तो वह निश्चित रूप से उत्कृष्ट और आदरणीय होता है। शास्त्रों ने कहा भी है कि विद्याहीन व्यक्ति पशु के समान है। विद्या का अर्थ केवल शास्त्र रटने से नहीं, विद्या का अर्थ अपने कार्य-व्यवहार में निपुण होना भी है।

विद्वान् प्रशस्यते लोके विद्वान् सर्वत्र पूज्यते।
विद्यया लभते सर्वं विद्या सर्वत्र पूज्यते।।२०।।

चाणक्य कहते हैं कि इस संसार में विद्वान् की ही प्रशंसा और विद्वान् की ही सब कहीं पूजा होती है। वस्तुतः विद्या से संसार की सभी दुर्लभ वस्तुएं भी प्राप्त हो सकती हैं। यही कारण है कि इस संसार में विद्या का और विद्यावान् का सब कहीं आदर-सम्मान होता है। अतः मानव को यत्नपूर्वक विद्या का संग्रह करना चाहिए।

मांसभक्षैः सुरापानैर्मूर्खैश्चाक्षरवर्जितैः।
पशुभिः पुरुषाकारैर्भाराक्रान्ता हि मेदिनी।।२१।।

भक्ष्याभक्ष्य का विचार त्याग कर मांस खाने वाले, मदिरा पीने वाले, निरक्षर, अनपढ़, काला अक्षर भैंस बराबर व्यक्ति पुरुष के रूप में पशु हैं, क्योंकि इनकी चेष्टाएं बिना विवेक के होती हैं। खाना-पीना, सोना-जागना तथा मैथुन से सन्तान उत्पन्न करना आदि पशुओं के आचरण से भिन्न नहीं। इस प्रकार के विद्या और विवेकरहित मनुष्यों—पुरुष-रूपधारी पशुओं—के भार से ही यह धरती दुःखी है, अर्थात् ऐसे लोग भूमि का भार हैं।

पृथिवी का प्रधान गुण क्षमा और सहनशीलता है, परन्तु पुरुष के रूप में पशु-समान आचरण वालों के भार को उठाने में वह भी असहनशील हो जाती है। कहने का अभिप्राय यह है कि मानवीय गुणों से रहित मनुष्य मनुष्य कहलाने और इस पृथिवी पर रहने के अधिकारी नहीं, अर्थात् ऐसे व्यक्ति का जीवन व्यर्थ है। वे उस ठूंठ के समान हैं जिसमें न फल होते हैं और न पत्ते।

अन्नहीनो दहेद्राष्ट्रं मन्त्रहीनश्च ऋत्विजः।
यजमानं दानहीनो नास्ति यज्ञसमो रिपुः।।२२।।

मानव-समाज के लिए यज्ञ जहां महान् उपकारक है, बादलों को जन्म देकर अन्न और धन-धान्य की बढ़ोतरी करता है, वहीं यदि उसमें सावधानी न बरती जाए, उसे ठीक ढंग से न किया जाय और उसके सम्पादन में त्रुटियां रह जाएं तो वह शत्रु के समान हानिकारक भी होता है।

यदि यज्ञ में अन्नदान नहीं किया जाय तो यज्ञ सार राष्ट्र को जला डालता है, यदि उसमें सही ढंग से मन्त्रपाठ नहीं किया जाय तो वह पुरोहितों को भस्म कर देता है और यदि यजमान पुरोहित को दान-दक्षिणा नहीं देता तो यज्ञ उसे भस्म कर देता है। इस प्रकार त्रुटिपूर्ण यज्ञ हानिकारक होता है। ऐसी भावना से रहित यज्ञ सूखी क्रिया के समान रह जाता है जिससे लाभ के बजाय हानि होती है।

नौवां अध्याय

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात ! विषयान् विषवत् त्यज।
क्षमार्जवंदया शौचं सत्यं पीयूषवत् पिब।।१।।

प्रिय बन्धु ! यदि जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होना चाहते हो तो एक ओर काम-क्रोधादि विषयों को विष-समान घातक और हानिकारक समझकर तत्काल छोड़ दो तथा दूसरी ओर दूसरे के दोषों की उपेक्षा और उनके द्वारा किये अपकार को सहन करते हुए सरलता—छल-कपट को छोड़कर मन, वचन और कर्म से एकरूप होना, दया—दूसरों के दुःखों को दूर करने की चेष्टा तथा पवित्रता—किसी का भी अहित-चिन्तन न करना—आदि गुणों को अमृत के समान उपयोगी मान कर इन्हें ग्रहण करो।

कहने का अभिप्राय यह है कि विषयों के त्याग और सहिष्णुता, सरलता, दयालुता तथा पवित्रता आदि गुणों को अपनाने से मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है। मानव को दुर्गुणों का परित्याग करके गुणों—सहनशीलता, दया, क्षमा, शुद्धि आदि—को अपनाना चाहिए।

परस्परस्य मर्माणि ये भाषन्ते नराधमाः।
त एव विलयं यान्ति वल्मीकोदरसर्पवत्।।२।।

जो नीच पुरुष एक-दूसरे के गुप्त रहस्यों को प्रकट करके एक-दूसरे को लाञ्छित और अपमानित करने की गन्दी चेष्टा करते हैं, वे दोनों एक-दूसरे के व्यूह में फंस कर ठीक उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं, जिस प्रकार बल्मीक अर्थात् बांबी के भीतर घुसा सांप बाहर न निकल पाने के कारण भीतर ही भीतर दम घुटने से मर जाता है। मित्र ही एक-दूसरे के रहस्य जानते हैं।

यदि किसी को अपने मित्र के रहस्य यानि गुप्तकार्य मालूम हैं तो उन्हें प्रकट नहीं करना चाहिए। इससे कोई लाभ नहीं, केवल शत्रुता पैदा होती है, जिससे दोनों को हानि होती है।

गन्धः सुवर्णे फलमिक्षुदण्डे, नाऽकारि पुष्पं खलु चन्दनस्य।
विद्वान् धनाढ्यश्च नृपश्चिरायुः, धातुः पुरा कोऽपि न बुद्धिदोऽभूत्।।३।।

महान् आश्चर्य की बात है कि सृष्टि की रचना से लेकर आज तक किसी ने ब्रह्मा जी को यह सुझाव नहीं दिया कि वे स्वर्ण को सुगन्धित बनाते, ईख के पौधे में फल लगाते, चन्दन में पुष्प लगाते, विद्वान् को धनी बनाते और राजा को लम्बी आयु वाला बनाते। यदि कहीं ऐसा होता तो बहुत ही अच्छा होता।

यह विधि की विडम्बना है कि स्वर्ण में गन्ध, गन्ने में फल और चन्दन में पुष्प नहीं होते। इसी प्रकार विद्वान् व्यक्ति धनी नहीं होते और राजा लोग दीर्घायु नहीं होते। यदि भगवान् इससे उलट करते तो शायद बहुत ही उत्तम होता। परन्तु सृष्टि के नियम को बदलने की क्षमता किसमें है? सृष्टि का नियम कोई नहीं बदल सकता।

सर्वौषधीनाममृता प्रधाना, सर्वेषु सौख्येष्वशनं प्रधानम्।
सर्वेन्द्रियाणां नयनं प्रधानं, सर्वेषु गात्रेषु शिरः प्रधानम्।।४।।

सभी औषधियों में अमृत प्रधान है, क्योंकि इसमें सभी रोगों के शमन की अद्‌भुत क्षमता होती है। सभी प्रकार के सुखों में भोजन प्रधान है, क्योंकि भूख की निवृत्ति के बिना मनुष्य को शान्ति प्राप्त हो ही नहीं पाती। सभी इन्द्रियों—आंख, कान, नाक, जिह्वा आदि—में नेत्र ही प्रधान हैं, क्योंकि दृष्टि के बिना तो सर्वत्र अन्धकार ही अन्धकार है तथा शरीर के सभी अंगों में सिर अर्थात् चिन्तनशक्ति-अंग ही प्रधान अर्थात् सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

अमृत जीवन को अमरत्व प्रदान करता है, भोजन शरीर को तृप्त करता है, आंख के बिना चारों ओर अन्धकार है और सिर अर्थात् मस्तिष्क के बिना चिन्तन नहीं हो सकता।

दूतो न सञ्चरति खे न चलेच्च वार्ता
पूर्वं न जल्पितमिदं न च संगमोऽस्ति।
व्योम्नि स्थितं रविशशिग्रहणं प्रशस्तं
जानाति यो द्विजवरः स कथं न विद्वान्।।५।।

चाणक्य कहते हैं कि जिन दिव्य दृष्टि वाले व्यक्तियों ने सूर्य और चन्द्रमा के राहु और केतु द्वारा ग्रहण की बात कही है उन्हें विद्वान् कैसे न माना जाए, क्योंकि इस बात का पता लगाने के लिए आकाश में न तो कोई दूत गया और न इस सम्बन्ध में किसी से बात हुई। ऐसी स्थिति में उक्त तथ्य का पता लगाने वाले अवश्य ही विद्वान् व्यक्ति थे। इस संसार में रहते हुए अन्तरिक्ष के रहस्यों का

ज्ञान विद्वान् व्यक्तियों को ही हो सकता है। इसमें संदेह की कोई आशंका नहीं।

विद्यार्थी सेवकः पान्थः क्षुधाऽऽर्तो भयकातरः।
भाण्डारी प्रतिहारी च सप्त सुप्तान् प्रबोधयेत्।।६।।

यदि ये सात व्यक्ति—विद्यार्थी, नौकर, राह चलने वाला मुसाफिर, भूखा, भय से घबराया हुआ, भण्डारी अर्थात् भोजन-सामग्री के संग्रहालय का अधिकारी तथा द्वारपाल—सो रहे हों, तो इन्हें निस्संकोच भाव से जगा देना चाहिए, क्योंकि इनके कर्त्तव्य-कर्म का निर्वाह इनके जागते रहने में ही है, सोने में नहीं। इनका सोना इनके प्रमाद का सूचक और हानिकारक है। यही कारण है कि इन सोये हुओं को जगाने पर कृतज्ञता ही मिलती है। जगाने वाले को अच्छा ही कहा जाएगा।

विद्यार्थी सोयेगा तो विद्याप्राप्ति में पिछड़ जाएगा। मुसाफिर सोयेगा तो लुट जाएगा। भूखे और भयातुर व्यक्ति को वैसे तो नींद नहीं आती, किन्तु सो भी रहे हों तो जगाके भूखे को भोजन करा दें और भयग्रस्त को आश्वासन से शान्त करें। इसी प्रकार स्टोर के रक्षक और पहरेदार के सोने से हानि होती है और चोरों को चोरी का अवसर मिल जाता है। अतः इन्हें सावधान करते रहना चाहिए।

अहिं नृपं च शार्दूलं बृहिं च बालकं तथा।
परश्वानं च मूर्खं च सप्त सुप्तान्न बोधयेत्।।७।।

कुछ ऐसे प्राणि भी होते हैं जिन्हें सोते से जगाने में हानि होती है। सोते हुए इन सातों—सांप, राजा, सिंह, बर्र, बालक, दूसरे का कुत्ता तथा मूर्ख व्यक्ति—को कभी नहीं जगाना चाहिए, क्योंकि इनके जगाने से मनुष्य को केवल हानि की ही नहीं अपितु प्राणनाश तक की सम्भावना रहती है, अतः अच्छा यही है कि इन्हें सोते ही रहने देना चाहिए। बालक को सोते से उठायेंगे तो रो-रो कर हाल-बेहाल कर देगा। उसे भी नहीं जगाना चाहिए।

अर्थाऽधीताश्च यैर्वेदास्तथा शूद्रान्नभोजिनाः।
ते द्विजाः किं करिष्यन्ति निर्विषा इव पन्नगाः।।८।।

जिस प्रकार विषरहित सर्प किसी को कोई हानि नहीं पहुंचा सकता, उसी प्रकार वे ब्राह्मण जिन्होंने अपनी विद्या बेच रखी है अर्थात् जिनके वेदाध्ययन का उद्देश्य केवल धन कमाना रह गया है और जो शूद्र का अन्न भी खा लेते हैं वे किसी भी यजमान का कुछ भी हित नहीं कर सकते, क्योंकि उनमें ब्रह्मतेज रह ही नहीं जाता, अतः उनके शाप अथवा वरदान में शक्ति नहीं रह पाती।

ब्रह्मतेज की रक्षा के लिए ब्राह्मण को न तो अपना ज्ञान बेचना चाहिए और

न ही नीच व्यक्ति का भोजन ग्रहण करना चाहिए। विद्या का भी दान करना चाहिए, न कि सौदेबाजी; परन्तु आजकल समय बदल गया है। सब बातें उलटी होती हैं। सम्भवतः मनुष्य के दुःखों के बढ़ने का कारण भी यही है।

यस्मिन् रुष्टे भयं नास्ति तुष्टे नैव धनाऽऽगमः।
निग्रहोऽनुग्रहो नास्ति स रुष्टः किं करिष्यति।।९।।

कुछ व्यक्ति उपेक्षित होते हैं, उनसे न कोई लाभ होता है और न हानि। जिनके रुष्ट हो जाने पर मन में किसी प्रकार का भय नहीं पनपता और सन्तुष्ट होने पर धन आदि का लाभ नहीं होता, जो बन्धन आदि के रूप में न किसी प्रकार की हानि पहुंचा सकता और न कृपालु होने पर कोई लाभ पहुंचा सकता है, ऐसे व्यक्ति के नाराज अथवा प्रसन्न होने की कोई भी व्यक्ति चिन्ता नहीं करता। जो व्यक्ति जब किसी का कुछ बना-बिगाड़ ही नहीं सकता तो फिर भला उसकी प्रसन्नता-अप्रसन्नता की परवाह कौन करेगा और किसलिए करेगा? चिन्ता उसी से रहती है जिससे हानि या लाभ हो सकता हो। उसीसे लोग डरते हैं जिससे किसी प्रकार का नुकसान होने का खतरा हो।

निर्विषेणाऽपि सर्पेण कर्तव्या महती फणा।
विषमस्तु न चाप्यस्तु घटाटोपो भयंकरः।।१०।।

चाणक्य के इस श्लोक का अर्थ यह है कि व्यक्ति को अपना थोड़ा-बहुत भय बनाये रखना चाहिए।

विषहीन सांप को भी अपने बचाव के लिए फन फैलाकर भय उत्पन्न करते रहना चाहिए। सांप में विष हो अथवा न हो, उसकी फुंकार ही डराने के लिए पर्याप्त होती है। यदि वह ऐसा नहीं करता तो वह लोगों के कोप का पात्र बन जाता है। लोग उसे पत्थर मारने लगते हैं, उसकी उपेक्षा करते हैं।

तात्पर्य यह है कि आदमी को अपना कुछ प्रभाव स्थिर रखना चाहिए। यदि वह अपने प्रभाव का परित्याग कर देता है तो लोग उसकी उपेक्षा करने लगते हैं, परन्तु प्रभाव उसके मूलगुणों के आधार पर ही होता है।

प्रातर्द्यूतप्रसंगेन मध्यान्हे स्त्रीप्रसंगतः।
रात्रौ चौर्यप्रसंगेन कालो गच्छत्ये धीमताम्।।११।।

बुद्धिमान पुरुष अपने दिन का प्रातःकाल महाभारत के, मध्यान्ह काल रामायण के और रात्रि का समय श्रीमद्भागवत पुराण के अध्ययन-श्रवण से सार्थक करते हैं।

महाभारत का मुख्य प्रसंग द्यूत है। रामायण का मुख्य प्रसंग सीता का हरण

है तथा श्रीमद्भागवत का मुख्य प्रसंग बाल और किशोर कृष्ण की माखन-चोरी और गोपियों के वस्त्र चुराने के प्रसंग हैं, अतः द्यूत प्रसंग से महाभारत, सीताहरण प्रसंग से रामायण तथा चौर प्रसंग से श्रीमद्भागवत का अर्थ लिया जाता है अर्थात् यह बातें उनका पर्याय बन गई हैं। उदाहरण के रूप में स्त्री का हरण करने वाले को रावण की संज्ञा दी जाती है और रामायण का स्मरण हो आता है। अधीयताम् अर्थात् मूर्खों के सारे काम अशुभ होते हैं। दिन निकलते ही जुआ खेलने लगते हैं। भरी दोपहरी में औरतों के प्रसंग में समय गँवाते हैं और रात को चोरी-चकारी में व्यस्त हो जाते हैं। इस प्रकार उनका सारा समय व्यर्थ बीत जाता है।

स्वहस्तग्रथिता माला स्वहस्तघृष्चन्दनम्।
स्वहस्तलिखितं स्तोत्रं शक्रयापि श्रियं हरेत्।।१२।।

प्रभु की मूर्ति को अपने हाथ से गूंथी माला पहनाने से, अपने ही हाथ से घिसा चन्दन लगाने से तथा अपने हाथ से लिखे स्तोत्र से स्तुति करने से मनुष्य इन्द्र की सम्पदा को भी अपने वश में करने में समर्थ हो जाता है।

अभिप्राय यह है कि समर्थ धनी पुरुषों को भी श्री नारायण की सेवा स्वयं करनी चाहिए, सेवकों पर यह कार्य नहीं छोड़ देना चाहिए। यह काम मनुष्य को स्वयं करने चाहिएं तभी इन का महत्त्व है। यदि आपकी ओर से प्रभु की पूजा आपका सेवक करेगा तो फल भी उसी को मिलेगा।

इक्षुदण्डास्तिलाः क्षुद्राः कान्ता हेम च मेदिनी।
चन्दनं दधि ताम्बूलं मर्दनं गुणवर्द्धनम्।।१३।।

गन्ना, तिल, क्षुद्र (मूर्ख व्यक्ति), स्त्री, सोना, धरती, चन्दन, दही और पान को जितना अधिक मसला जाए, उतना ही अधिक उनके गुणों में वृद्धि होती है।

गन्ने को अधिक पीड़ने से रस अधिक निकलता है। तिलों को कोल्हू आदि में अधिक पेरने से तेल अधिक निकलता है। मूर्ख स्त्री अथवा पुरुष भी कड़ाई से शिक्षित करने पर वे कुछ सीधे हो जाते हैं। स्त्री को भोग में मसलने से वह प्रसन्न होकर पति के अधीन हो जाती है। सोने को अधिक तपाने से उसमें अधिक चमक आ जाती है। इसी प्रकार धरती को अधिक खोदने अर्थात् उसमें अच्छी प्रकार हल चलाने से वह अधिक उपजाऊ बनती है। चन्दन, दही और पान भी रगड़ने से गन्ध और स्वाद में उत्कृष्ट हो जाते हैं।

दरिद्रता धीरतया विराजते, कुवस्त्रता शुभ्रतया विराजते।
कदन्नता चोष्णतया विराजते, कुरूपता शीलतया विराजते।।१४।।

निर्धन होने पर यदि मानव धैर्य से काम लेता है तो निर्धनता दुःखदायक नहीं रह जाती। घटिया कपड़ा भी साफ-सुथरा व धुला हुआ हो तो पहनने पर बुरा नहीं लगता। घटिया अन्न—मक्का, बाजरा आदि से बना भोजन भी गरम-गरम हो तो स्वादिष्ट लगता है, इसी प्रकार अच्छे स्वभाव और चरित्र का व्यक्ति कुरूप होने पर भी बुरा नहीं लगता।

इस प्रकार धैर्य दरिद्रता का, शुद्धता वस्त्र की साधारणता का, उष्णता अन्न की क्षुद्रता का और सदाचार कुरूपता का आवरण है। निर्धन या दरिद्र होने पर धैर्य, सस्ता परन्तु साफ वस्त्र, ताजा-गरम भोजन और कुरूप होने पर सदाचारी होना श्रेष्ठ है। अर्थात् यदि ये गुण होंगे तो उनके दोष छिप जायेंगे। सस्ते कपड़े हों, उनसे इतना अन्तर नहीं आयेगा। अन्तर तब पड़ेगा जब वे मैले-गन्दे होंगे। सस्ते अन्न का भोजन भी साफ-सुथरा और गरम होगा तो कोई भी उसे चाव से ग्रहण कर लेगा। कुरूप व्यक्ति यदि शीलगुण-सम्पन्न होगा तो उसके शरीर के भोंडेपन पर ध्यान नहीं जाएगा।

दसवां अध्याय

धनहीनो न हीनश्च धनिकः स सुनिश्चयः।
विद्यारत्नेन हीनो यः स हीनः सर्ववस्तुषु।।१।।

धन से रहित होने के कारण किसी व्यक्ति को निर्धन नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वास्तव में सच्चा धन रुपया-पैसा न होकर विद्या ही है। इस विद्यारूपी धन से रहित व्यक्ति ही सही अर्थों में सभी गुणों से रहित होने के कारण निर्धन और तुच्छ होता है। तुच्छता और दरिद्रता का आधार धनहीनता न होकर विद्याहीन होना ही है, अतः मनुष्य को धन की अपेक्षा विद्या-प्राप्ति के लिए ही प्रयत्नशील होना चाहिए।

व्यक्ति धन का उपार्जन विद्या या अपने हुनर से ही करता है, इसलिए व्यक्ति को चाहिए कि वह विद्या-प्राप्ति का यत्न करे अथवा कोई हुनर सीखे, जिससे उसे धन की प्राप्ति हो।

दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं पिबेज्जलम्।
शास्त्रपूतं वदेद् वाक्यं मनः पूतं समाचरेत्।।२।।

पांव उठाने से पहले देख लेना चाहिए कि पांव कहां पड़ेगा। आंखों से भली प्रकार मार्ग की परीक्षा करके उस पर ही चलना प्रारम्भ करना चाहिए। वस्त्र से छान कर ही जल पीना चाहिए। शास्त्र द्वारा संशोधित सत्य, शुद्ध और मधुर वाणी बोलनी चाहिए तथा पवित्र मन से ही दूसरों के साथ व्यवहार-आचरण करना चाहिए।

यहां यह उल्लेखनीय है कि देखभाल कर चलने से ठोकर लगने, गिरने अथवा कीचड़ में धंसने आदि की आशंका नहीं रहती। वस्त्र से जल को छान लेने पर क्षुद्र कीट-पतंग आदि से बचाव हो जाता है। प्राचीनकाल से ही जैन-धर्मावलम्बी लोग जल को छान कर पीते हैं और आज तो डाक्टर लोग भी फिल्टर्ड वाटर के सेवन का विधान करते हैं। शास्त्र-सम्मत वाणी के प्रयोग तथा

पवित्र मन के आचरण से व्यक्ति को सच्चा और शाश्वत सुख मिलता है। उसके मन में तनाव नहीं होता।

सुखार्थी चेत् त्यजेद् विद्यां विद्यार्थी चेत् त्यजेत् सुखम्।
सुखार्थिनः कुतो विद्या विद्यार्थिनः कुतः सुखम्।।३।।

आचार्य चाणक्य ने इस श्लोक में विद्यार्थियों के हित की बात कही है कि यदि विद्यार्थी का सुख के प्रति लगाव है, कष्ट उठाने का मन नहीं है, तपश्चरण की इच्छा अथवा प्रवृत्ति नहीं है तो उसे विद्याप्राप्ति की आशा छोड़ देनी चाहिए। यदि सचमुच ही व्यक्ति विद्या पाने का इच्छुक हो तो उसे सुख-चैन का परित्याग करने को उद्यत रहना चाहिए, क्योंकि वास्तविकता यह है कि सुख में डूबे व्यक्ति को विद्या और विद्या पाने के इच्छुक को सुख प्राप्त नहीं हो सकता, अतः दोनों में एक का ही चुनाव करना होता है।

अभिप्राय यह है कि विद्या-प्राप्तिकाल में व्यक्ति को साधना करनी पड़ती है, अतः इस अवधि में उसे सुख-भोग की इच्छा का परित्याग कर देना चाहिए। इस तपःसाधना (विद्याप्राप्ति) के उपरान्त तो व्यक्ति को सुख ही सुख मिलता है, अतः बुद्धिमान् पुरुष को जीवन-भर के सुख भोग के लिए अल्पकाल के दुःख सहन करने को उद्यत रहना चाहिए।

प्रायः देखा जाता है कि विद्यार्थी-जीवन में गुलछर्रे उड़ाने वाले भावी जीवन में असफल होते और धक्के खाते हैं, जबकि इस अवधि में साधना करने वाले सफल जीवन व्यतीत करते हैं। इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है।

कवयः किं न पश्यन्ति किं न कुर्वन्ति योषितः।
मद्यपाः किं न जल्पन्ति किं न खादन्ति वायसाः।।४।।

कवि का दर्जा बहुत ऊंचा होता है। वह ऐसी उपमा देता है कि लोग सोच भी नहीं सकते। उसकी सूझ वहां तक पहुंचती है जहां सामान्य जन नहीं पहुंच सकते। स्त्री जो भी कर गुजरे कम है, शराबी का क्या पता कब क्या बकने लगे! कौए को यह पता नहीं होता क्या खाने योग्य है और क्या नहीं।

कवि क्रान्तद्रष्टा होते हैं। वे उस सूक्ष्म रहस्य को भी देख लेते हैं, जिसे दूसरे मनुष्य नहीं देख पाते। उक्ति प्रचलित है—"जहां न जाय रवि, वहां जाय कवि"। स्त्रियां अत्यन्त दुस्साहस वाली होती हैं। वे अपनी करनी पर आ जाएं तो कुछ भी कर गुजरती हैं। प्रेमी को पाने के लिए अपने पति से विश्वासघात करने से भी नहीं चूकतीं। मदिरा के नशे में डूबे हुए व्यक्ति विवेकहीन होते हैं और कुछ भी अण्टशण्ट बक देते हैं। इसी प्रकार कौवे भक्ष्य-अभक्ष्य कुछ भी खा लेते हैं।

उनमें अभक्ष्य का त्याग कर भक्ष्य को पाने का धैर्य तथा विवेक नहीं होता।

रंकं करोति राजानं राजानं रंकोव च।
धनिनं निर्धनं चैव निर्धनं धनिनं विधिः।।५।।

भाग्य की महिमा बड़ी विचित्र है। वह पल-भर में ही रंक को राजा और राजा को रंक, धनी को निर्धन तथा निर्धन को धनी बना देता है। उसकी लीला सचमुच ही बड़ी विचित्र है। उसे कोई नहीं समझ सकता। भाग्य के अधीन धनी और निर्धन होने के किस्से प्रतिदिन सुनने को मिलते हैं।

भाग्य की महिमा अपरम्पार है तथा उसकी शक्ति पर किसी का भी कोई वश नहीं चलता। कल क्या होने वाला है, कोई नहीं जानता।

लुब्धानां याचकः शत्रुर्मूर्खाणां बोधकः रिपुः।
जारस्त्रीणां पतिः शत्रुश्चौराणां चन्द्रमा रिपुः।।६।।

लोभी व्यक्तियों के लिए भीख, चन्दा तथा दान मांगने वाले व्यक्ति शत्रुरूप होते हैं, क्योंकि याचक को देने के लिए उन्हें उपनी गांठ के धन का परित्याग करना पड़ता है। मूर्खों को भी समझाने-बुझाने वाला व्यक्ति अपना शत्रु लगता है, क्योंकि वह उनकी मूर्खता का समर्थन नहीं करता। दुराचारिणी स्त्रियों के लिए पति ही उनका शत्रु होता है, क्योंकि उसके कारण उनकी स्वतन्त्रता और स्वच्छन्दता में बाधा पड़ती है। चोर चन्द्रमा को अपना शत्रु समझते हैं, क्योंकि उन्हें अंधेरे में छिपना सरल होता है, चांदनी में नहीं।

बन्दर और बया की कहानी मूर्खों को सीख देने का परिणाम बताती है। इसलिए मूर्ख को सीख देने और लोभी से कुछ मांगने की भूल कभी नहीं करनी चाहिए।

येषां न विद्या न तपो न दानम्, न चापि शीलं न गुणो न धर्मः
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति।।७।।

कुछ लोग अपना जीवन व्यर्थ ही गंवा देते हैं। जिन लोगों के पास न विद्या है, न तप अथवा कठोर साधना करते हैं, जिनमें न दान की प्रवृत्ति है, न सदाचार के पालन की भावना है, न ही किसी प्रकार का कोई अन्य गुण है और न धर्म-पालन में ही जिनकी रुचि है, ऐसे व्यक्ति इस संसार में मनुष्य के रूप में पृथिवी का भार ही होते हैं। उनका जीवन एक पशु जैसा होता है।

वस्तुतः ऐसे व्यक्तियों का जीवन व्यर्थ है।

अन्तःसारविहीनानामुपदेशो न जायते।

मलयाचलसंसर्गात् न वेणुश्चन्दनायते।।८।।

जो व्यक्ति अन्दर से खोखले हैं, जिनके भीतर समझने की शक्ति नहीं है, ऐसे व्यक्तियों को उपदेश देने का कोई लाभ नहीं, क्योंकि वे बेचारे समझने की शक्ति के अभाव के कारण शायद चाहते हुए भी कुछ समझ नहीं पाते। उदाहरणार्थ, मलयाचल पर उगने पर भी तथा चन्दन का साथ रहने पर भी बांस सुगन्धित नहीं हो जाते। यही स्थिति विवेकहीन व्यक्तियों की भी होती है, सज्जनों के संग का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

प्रभाव तो उन लोगों पर पड़ता है जिनमें कुछ सोचने-समझने या ग्रहण करने की शक्ति होती है।

जिस व्यक्ति के पास स्वयं सोचने-समझने की बुद्धि नहीं, वह अन्य किसी के गुणों को क्या ग्रहण करेगा!

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति।।९।।

जिसके पास स्वयं की बुद्धि नहीं है अथवा जो शास्त्र को समझने की बुद्धि नहीं रखता, शास्त्र उसका कैसे और क्या कल्याण कर सकता है? उदाहरणार्थ, जिसके दोनों नेत्रों में ज्योति ही नहीं है, जो जन्म से अन्धा है, वह दर्पण में अपना मुख किस प्रकार देख सकता है? जिस प्रकार दर्पण अन्धे व्यक्ति का कोई लाभ नहीं कर सकता और इसमें दर्पण को कोई दोष नहीं दिया जा सकता, यही स्थिति बुद्धिहीन व्यक्ति के लिए शास्त्र की है। शास्त्र बुद्धिहीन व्यक्ति का किसी भी प्रकार उद्धार नहीं कर सकता। शास्त्र अथवा शिक्षा उसी को लाभ पहुंचा सकती है जो अपनी बुद्धि के प्रयोग से उन्हें समझ सके।

दुर्जनं सज्जनं कर्तुमुपायो न हि भूतले।
अपानं शतधा धौतं न श्रेष्ठमिन्द्रियं भवेत्।।१०।।

मल का त्याग करने वाली इन्द्रिय को कितनी भी बार स्वच्छ किया जाए, साबुन-पानी से सैकड़ों बार धोने पर भी वह स्पर्श करने योग्य नहीं बन पाती, उसी प्रकार दुर्जन को कितनी भी बार समझाया-बुझाया जाय वह सज्जन नहीं बन सकता, अतः इस संसार में दुर्जन को सुधारने का प्रयास निरर्थक ही है, क्योंकि ऐसा कोई साधन नहीं, जिससे उसे सुधारा जा सके। यह बात बिल्कुल ऐसी ही प्रतीत होती है कि कुत्ते की पूंछ को कितने ही दिन कांच की नली में दबा कर रखा जाय, बाहर निकलने पर वह टेढ़ी ही रहेगी। मूर्ख को कितना ही समझाया जाये, वह मूर्ख ही रहेगा।

आप्तद्वेषाद् भवेन्मृत्युः परद्वेषाद् धनक्षयः।
राजद्वेषाद् भवेन्नाशो ब्रह्मद्वेषात्कुलक्षयः।।११।।

विद्वानों, ऋषियों तथा सिद्ध पुरुषों से द्वेष करने से मनुष्य जीवित नहीं रह पाता, इससे उसकी प्राणहानि होती है। शत्रुओं से द्वेष बनाए रखने से प्राणों के साथ धन का भी नाश होता है, क्योंकि बचाव के उपायों पर धन व्यय होता ही है। राजा तथा राजपरिवार से शत्रुता करने से सर्वस्व अर्थात् धन-सम्मान तथा प्राण का नाश होता है और ब्राह्मणों से द्वेष करने से प्राण, धन तथा सम्मान के साथ-साथ पूरे वंश का नाश हो जाता है। ब्राह्मण के रुष्ट होकर शाप देने पर वंश निर्मूल हो जाता है।

इसका अर्थ यह है कि मनुष्य को ब्राह्मण अर्थात् श्रेष्ठ एवं सज्जन स्वभाव के व्यक्ति की सद्भावनाएं ग्रहण करनी चाहिएं।

वरं वनं व्याघ्रगजेन्द्रसेवितं, द्रुमालयः पत्रफलाम्बु सेवनम्।
तृणेषु शय्या शतजीर्णवल्कलं, न बन्धुमध्ये धनहीनजीवनम्।।१२।।

मनुष्य हिंसक जीवों, बाघों, हाथियों और सिंहों जैसे भयंकर जीवों से घिरे वन में रह ले, वृक्ष पर घर बनाकर, फल-पत्ते खाकर और पानी पीकर निर्वाह कर ले, धरती पर घास-फूस बिछाकर सो ले और फटे-पुराने सैकड़ों टुकड़े-टुकड़े हुए वृक्षों की छाल को ओढ़कर शरीर को ढक ले, परन्तु धनहीन होने पर भी अपने सम्बन्धियों के साथ कभी न रहे, क्योंकि इससे उसे अपमान और उपेक्षा का जो कड़वा घूंट पीना पड़ता है, वह सर्वथा असह्य होता है।

निर्धन होना कितना बड़ा पाप है, इसी बात को आचार्य चाणक्य ने भली प्रकार से यहां स्पष्ट किया है। उनका कहना है कि निर्धन व्यक्ति को अपने सगे सम्बन्धियों से भी अपमान सहना पड़ता है।

विप्रो वृक्षस्तस्य मूलं च सन्ध्या, वेदाः शाखा धर्मकर्माणि पत्रम्।
तस्मान्मूलं यत्नतो रक्षणीयं, छिन्ने मूले नैव शाखा न पत्रम्।।१३।।

ब्राह्मण तत्त्वज्ञानरूपी वृक्ष है, सन्ध्या प्रातः दोपहर और सायं अर्थात् दो कालों की सन्धि-वेला में की जाने वाली पूजा-उपासना उस वृक्ष की जड़ें हैं, वेद अर्थात् तत्त्वज्ञान उस वृक्ष की शाखा हैं तथा धर्म-कर्म उसके पत्ते हैं। प्रयत्नपूर्वक मूल की रक्षा करने से ही वृक्ष भली प्रकार फलता-फूलता है और यदि कहीं जड़ ही कट जाए तो न शाखा का कोई महत्त्व रह जाता है और न पत्ते ही हरे-भरे रह पाते हैं। ब्राह्मण से तात्पर्य विद्वान्, सद्गुणी और श्रेष्ठ पुरुष से है, केवल ब्राह्मण-कुल में जन्म लेने वाले से नहीं।

माता च कमलादेवी पिता देवो जनार्दनः।
बान्धवाः विष्णुभक्ताश्च स्वदेशो भुवनत्रयम्।।१४।।

प्रभु के भक्तों के लिए तीनों लोक उनके घर के समान ही हैं। श्रद्धालु भक्तों के लिए लक्ष्मी माता तथा श्री विष्णु नारायण पिता हैं। भगवान् के भक्त ही भक्तों के बन्धु-बान्धव हैं और तीनों लोक ही उनका अपना देश अर्थात् निवास-स्थान है।

सच्चे भक्त लौकिक सम्बन्धों की अपेक्षा पारमार्थिक सम्बन्धों को ही महत्त्व देते हैं। वे आध्यात्मिक सम्बन्धों को ही तात्त्विक तथा वास्तविक मानते हैं। अर्थात् श्रद्धावान् व्यक्ति के लिए आध्यात्मिक सम्बन्धों का बड़ा महत्त्व है।

एकवृक्षसमारूढा नानावर्णा विहंगमाः।
प्रभाते दिक्षु दशसु का तत्र परिवेदना।।१५।।

रात होने पर अनेक जातियों के पक्षी—कौआ, तोता, कबूतर आदि—एक ही वृक्ष पर आ बैठते हैं और रात्रि वहीं बिताते हैं और प्रभात होने पर दाना चुगने के लिए भिन्न-भिन्न दिशाओं में उड़ जाते हैं। यही स्थिति परिवार के सदस्यों की भी है। कुछ लोग एक परिवाररूपी वृक्ष पर आकर बैठते हैं और समय आने पर चल देते हैं, इसमें दुःखी होने की कोई बात नहीं। आवागमन और संयोग-वियोग तो जीवों का नित्य धर्म है।

परिवार संसार के मानवरूपी पक्षियों द्वारा वृक्ष पर बसेरा करने का स्थान है। भाँति-भाँति के लोग इस संसार में आते हैं, यहां रहते हैं और समय आने पर चले जाते हैं, बिछुड़ जाते हैं अर्थात् यहां विभिन्न प्रकार के लोगों का मिलन अस्थायी ही होता है। यह बात सब जानते हैं फिर भी जब कोई बिछुड़ता है तो लोग शोक मनाते हैं। आचार्य चाणक्य के अनुसार ऐसा करना उचित नहीं।

बुद्धिर्यस्य बलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम्।
वने सिंहो मदोन्मत्तः शशकेन निपातितः।।१६।।

जिसके पास बुद्धि है, बल भी उसी के पास है। बुद्धिहीन का तो बल भी निरर्थक है, क्योंकि वह उसका प्रयोग ही नहीं कर पाता। बुद्धि के बल पर ही एक बुद्धिमान् खरगोश ने अहंकारी सिंह को वन में कुएं में गिराकर मार डाला था।

कथा इस प्रकार है कि सिंह के साथ पशुओं द्वारा किये गये समझौते के अनुसार वन का एक पशु प्रतिदिन बारी-बारी से सिंह के भोजन के लिए जाता था। एक दिन जब एक खरगोश की बारी आई तो उसने जान बचाने की युक्ति सोची। उसने सिंह के पास जाकर कहा कि उसे दूसरा सिंह अपना भोजन बनाना

चाहता है। वह उसे सूचित करके लौटने की प्रतिज्ञा करके आया है। शेर ने जब खरगोश को दूसरा शेर दिखाने को कहा तो उसने कुएं में उसी सिंह की परछाईं दिखा दी। मूर्ख सिंह ने अपने शत्रु को पछाड़ने के लिए कुएं में छलांग लगा दी और वहीं मर गया।

इस कथा से स्पष्ट होता है कि बुद्धिमान् ही बल का सही उपयोग कर सकता है, बुद्धिहीन का बल भी उसके काम नहीं आता। एक छोटे-से बुद्धिमान् खरगोश ने अपने से भी अधिक शक्तिशाली सिंह को मार गिराया। अक्ल बड़ी या भैंस वाली कहावत यहां पूर्णतः चरितार्थ होती है।

का चिन्ता मम जीवने यदि हरिर्विश्वम्भरो गीयते,
नो चेदर्भकजीवनाय जननीस्तन्यं कथं निर्मयेत्।
इत्यालोच्य मुहुर्मुहुर्यदुपते लक्ष्मीपते केवलं,
त्वत्पादाम्बुजसेवनेन सततं कालो मया नीयते।।१७।।

भगवान् श्री विष्णुनारायण जब विश्वम्भर यानि सारे संसार का भरण-पोषण करने वाले कहे जाते हैं तो फिर मुझे जीवन में किस बात की चिन्ता है? यदि श्रीनारायण विश्वम्भर न होते तो गर्भस्थ शिशु के लिए मां के स्तनों में दूध कहां से आ जाता? हे लक्ष्मीपते! आपके विश्व-पोषक होने पर विश्वास करके ही मैं आपके चरण-कमलों की सेवा में अपना सारा समय बिताता हूं।

यह त्याग की भावना है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि व्यक्ति कर्महीन होकर बैठ जाय। इसका आशय यह है कि व्यक्ति को अपने कार्य भगवान् को समर्पित करके ही करने चाहिएं।

गीर्वाणवाणीषु विशिष्टबुद्धिस्तथापि भाषान्तरलोलुपोऽहम्।
यथा सुराणाममृते स्थितेऽपि स्वर्गांगनानामधरासवे रुचिः।।१८।।

जिस प्रकार अमृत के सुलभ होने पर भी देवतागण स्वर्ग की अप्सराओं के अधर-रस को पीने के लिए लालायित रहते हैं, उसी प्रकार संस्कृत भाषा में गहरी पैठ रखता हुआ भी मैं अन्य भाषाओं को जानने के लिए उत्सुक हूं।

अन्य भाषाओं की जिज्ञासा का अर्थ संस्कृत में अरुचि नहीं, न ही अज्ञान है और न ही अपेक्षा, अपितु इसे जिज्ञासा-तृप्ति ही समझना चाहिए।

आचार्य ने सैकड़ों वर्ष पूर्व यह बात कही थी जो आज भी हमारे लिए मार्गदर्शक हो सकती है कि व्यक्ति को अधिक-से-अधिक भाषाओं के ज्ञानार्थ प्रयत्न करना चाहिए।

अन्नाद् दशगुणं पिष्टं पिष्टाद् दशगुणं पयः।
पयसोऽष्टगुणं मांसं मांसाद् दशगुणं घृतम्।।१९।।

अन्न की अपेक्षा उसके चूर्ण अर्थात् पिसे हुए आटे में दस गुणा अधिक शक्ति होती है। दूध में आटे से भी दस गुणा अधिक शक्ति होती है। मांस में दूध से भी आठ गुणा अधिक शक्ति होती है और घी में मांस से भी दस गुणा अधिक बल है।

अतः मांस खाने वालों को घृत के सेवन का अभ्यास डालना चाहिए। समय के अनुसार नियम बदलते रहते हैं। आज दालें तथा सूखे मेवे मांस की पूर्ति कर सकने में समर्थ हैं। उनमें भी प्रोटीन काफी मात्रा में मिलता है।

शाकेन रोगा वर्द्धन्ते पयसा वर्द्धते तनुः।
घृतेन वर्द्धते वीर्यं मांसान्मांसं प्रवर्द्धते।।२०।।

साग-सब्जी खाते रहने से रोग बढ़ जाते हैं, दूध का सेवन करने से शरीर बढ़ता है। घी खाने से बल-वीर्य की वृद्धि होती है और मांस खाने से मांस बढ़ता है।

अतः मांस खाने वालों को बल-बुद्धि के लिए मांस का नहीं, घी का सेवन करना चाहिए। साग-सब्जी से रोग बढ़ने का कारण यह है कि हम साग-सब्जी के गुण-अवगुण पर ध्यान नहीं देते और न उन्हें अच्छी प्रकार साफ करके पकाते हैं। इसलिए उनमें कीटाणु रह जाते हैं। उन्हें स्वच्छ पानी से धोकर ही पकाना चाहिए।

ग्यारहवां अध्याय

दातृत्वं प्रियवक्तृत्वं धीरत्वमुचितज्ञता।
अभ्यासेन न लभ्यन्ते चत्वारः सहजा गुणाः।।१।।

मनुष्य में चार बातें स्वभावतः होनी उचित हैं। वे हैं—दान देने की इच्छा, मीठा बोलना, सहनशीलता और उचित अथवा अनुचित का ज्ञान। ये बातें व्यक्ति में सहज भाव से ही होनी चाहिएं, अभ्यास से ये गुण व्यक्ति में नहीं आ सकते।

अर्थात् ईश्वर ने जन्म से जिन्हें ये गुण प्रदान किए हैं, ये गुण अभ्यास द्वारा अपनाने से नहीं आते। मनुष्य में दो प्रकार के गुण होते हैं—एक वे जो यत्न अथवा अभ्यास से पैदा होते हैं, दूसरे स्वभाव से। मनुष्य अपने प्रयास द्वारा जिन गुणों को प्राप्त करता है, वे यत्नज कहलाते हैं और जो उसे ईश्वर-कृपा से अपने-आप मिले होते हैं, वे सहज अर्थात् जन्मजात होते हैं। उपर्युक्त चार गुण सहज हैं, इन्हें प्रयास अथवा अभ्यास से प्राप्त नहीं किया जा सकता। कर्ण अथवा राजा हरिश्चन्द्र ने अपने गुणों की प्राप्ति के लिए यत्न नहीं किया, वे उनके सहज गुण थे।

आत्मवर्गं परित्यज्य परवर्गं समाश्रितः।
स्वयमेव लयं याति यथा राजाऽन्यधर्मतः।।२।।

जिस प्रकार एक राजा अत्यधिक अधर्म के आचरण से नष्ट हो जाता है, उसका पाप ही उसे समाप्त कर देता है, ठीक उसी प्रकार अपने लोगों को छोड़ कर दूसरों को अपनाने वाला मूर्ख व्यक्ति भी अपने-आप ही नष्ट हो जाता है। दूसरे लोग अन्ततः इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि जो अपनों का नहीं बना, वह हमारा क्या बनेगा? इस अविश्वास के कारण वह विनाश का पात्र बनता है, अर्थात् अपनों का त्याग एक प्रकार से अधर्म ही है। यह सभी जानते हैं कि अधर्म से अन्ततः हानि ही होती है।

हस्ती स्थूलतनुः स चांकुशवशः किं हस्तिमात्रोऽङ्कुशः
दीपे प्रज्वलिते प्रणश्यति तमः किं दीपमात्रं तमः।
वज्रेणापि हताः पतन्ति गिरयः किं वज्रमात्रं गिरिस्
तेजो यस्य विराजते सः बलवान् स्थूलेषु कः प्रत्ययः।।३।।

विशाल, भारी-भरकम शरीर वाला हाथी अंकुश से वश में किया जा सकता है। सब जानते हैं कि अंकुश परिमाण में हाथी से बहुत ही छोटा और सामान्य होता है। इसी प्रकार एक छोटा-सा दीपक अपने आसपास के विशाल अन्धकार को दूर कर देता है और एक छोटा-सा हथौड़ा बड़े-बड़े पहाड़ों को तोड़ने लगता है। स्पष्ट है कि ये चीजें आकार में तो बहुत छोटी होती हैं, परन्तु अपने से बड़ों—विशाल देह वालों को भी वश में कर लेती हैं। इसका कारण उनका तेज और बल है। प्रज्वलित दीपक सारे अन्धकार को नष्ट कर देता है, परन्तु परिमाण में अन्धकार दीपक से बहुत अधिक होता है। वज्र के प्रहार से बड़े-बड़े पर्वत टूट जाते हैं जबकि वज्र पर्वतों से बहुत छोटा होता है।

छोटे-से अंकुश से इतने बड़े हाथी को साधना, छोटे-से दीपक से इतने बड़े व्यापक अन्धकार का नष्ट होना तथा छोटे-से वज्र से विशाल-उन्नत पर्वतों का टूटना इस सत्य के प्रमाण हैं कि तेज-ओज की ही विजय होती है, तेज में ही शक्ति रहती है। मोटापे को बल का प्रतीक नहीं समझना चाहिए अर्थात् मोटे व्यक्ति को बलवान् समझना भ्रान्ति है।

कलौ दशसहस्रेषु हरिस्त्यजति मेदिनीम्।
तदर्द्धं जाह्नवीतोयं तदर्द्धं ग्रामदेवता।।४।।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि जब कलियुग के समाप्त होने में दस हजार साल शेष रह जायेंगे तो भगवान् भारत से बाहर चले जाएंगे और पांच हजार वर्ष शेष रहने पर इस धरती पर गंगा का जल भी नहीं रहेगा तथा ढाई हजार वर्ष पूर्व ग्रामदेवता भी ग्रामों से कूच कर जायेंगे।

कह नहीं सकते कि यह चिह्न यहां प्रलय से पूर्व के हैं या कुछ और, परन्तु यह तो सच है कि प्रत्येक ग्राम का देवता अपना होता है जिसकी ग्रामवासी पूजा करते हैं। लेकिन जब अधर्म बढ़ जाता है तो अपने भी साथ छोड़ जाते हैं।

गृहाऽऽसक्तस्य नो विद्या नो दया मांसभोजिनः।
द्रव्यलुब्धस्य नो सत्यं स्त्रैणस्य न पवित्रता।।५।।

घर के सुखों अथवा परिवार में मोह रखने वाला कभी भी विद्या प्राप्त नहीं कर सकता। विद्या-प्राप्ति के लिए बहुत कष्ट उठाने पड़ते हैं, श्रम करना पड़ता

है और देश-विदेश भी जाना पड़ सकता है। मांस खाने वाले के मन में दया का भाव नहीं उपज सकता, मांसाहारी तो हिंसक ही होता है। धन का लोभी सत्यभाषण नहीं कर सकता, उसे तो जिस किसी भी साधन से धन-प्राप्ति ही अभीष्ट होती है। स्त्रियों में आसक्ति रखने वाला कामी पुरुष पवित्र सदाचारी नहीं रह सकता। कामासक्त व्यक्ति विचारों और आचरण में शुद्धता नहीं रख सकता।

न दुर्जनः साधुदशामुपैति बहुप्रकारैरपि शिक्ष्यमाणः।
आमूलसिक्तः पयसा घृतेन न निम्बवृक्षो मधुरत्वमेति।।६।।

नीम के वृक्ष की जड़ को दूध और घी से सींचने पर भी नीम का वृक्ष जिस प्रकार अपना कड़वापन छोड़ कर मीठा नहीं हो सकता, उसी प्रकार दुष्ट व्यक्ति को कितना भी सिखाने की चेष्टा की जाय, समझाया जाय, वह अपनी दुर्जनता को छोड़कर कभी सज्जनता को नहीं अपना सकता। अभिप्राय यह है कि दुर्जन को समझाने की चेष्टा व्यर्थ ही है।

इससे स्पष्ट है कि किसी भी चीज अथवा व्यक्ति के मूल गुणों अथवा स्वभाव में परिवर्तन नहीं हो सकता।

अन्तर्गतमलो दुष्टस्तीर्थस्नानशतैरपि।
न शुध्यति यथा भाण्डं सुराया दाहितं च सत्।।७।।

जिस पात्र में शराब अथवा मादक द्रव्य रखा जाता है उसे आग से तपाए जाने पर भी उसकी गन्ध नहीं जाती, वह शुद्ध नहीं होता। ठीक इसी प्रकार कुटिल मन वाला व्यक्ति, जिसके मन में पाप भरा है, सैकड़ों तीर्थों में स्नान करने पर भी पवित्र और निष्पाप नहीं हो पाता। ऐसे व्यक्ति के लिए तीर्थों में भटकना बेकार है। जब तक मनुष्य अपने मन से दुर्भावना का परित्याग नहीं करता, तब तक तीर्थसेवन से कोई लाभ नहीं।

न वेत्ति यो यस्यगुणप्रकर्षं स तं सदा निन्दति नाऽत्र चित्रम्।
यथा किराती करिकुम्भलब्धां मुक्तां परित्यज्य बिभर्ति गुंजाः।।८।।

जिसे किसी की विशेषताओं या गुणों का ज्ञान नहीं, यदि ऐसे व्यक्ति की कोई निन्दा करता है तो आश्चर्य नहीं। जिसकी निन्दा की जाती है उसकी भी कोई हानि नहीं होती। उदाहरण के रूप में यदि भीलनी को गजमुक्ता यानि हाथी के कपाल में पाई जाने वाली काले रंग की भारी और मूल्यवान् मणि मिल जाए तो उसका मूल्य न जानने के कारण वह भीलनी उस मणि को फेंक कर घुंघची (लाल रंग की रत्तियों) की माला को ही गले में धारण करती है। इससे गजमुक्ता का

महत्त्व कम नहीं हो जाता। अनजान व्यक्ति द्वारा की गई उपेक्षा कोई महत्त्व नहीं रखती। दोष तो उसके अज्ञान का है, उस मूल्यवान् वस्तु का नहीं। जौहरी ही रत्नों की पहचान जानता है।

ये तु संवत्सरं पूर्णं नित्यं मौनेन भुञ्जते।
युगकोटिसहस्रं तैः स्वर्गलोके महीयते।।९।।

वर्ष-भर नित्यप्रति मौन रह कर भोजन करने वाला करोड़ों चतुर्युगों तक (एक युग से चार युग—सतयुग, द्वापर, त्रेता और कलियुग होते हैं और प्रत्येक की आयु क्रमशः 12, 10, 8, और 6 हजार वर्ष मानी गई है।) स्वर्ग में निवास करता तथा देवों द्वारा पूजा जाता है। अर्थात् जो व्यक्ति ईमानदारी से मेहनत करने पर खाने के लिए जो कुछ मिल जाता है, उसी में सन्तुष्ट रहता है, उसे न कोई तनाव होता है और न कष्ट। उससे सभी प्रसन्न रहते हैं। वह इस पृथिवी पर ही स्वर्ग में रहता है।

कामं क्रोधं तथा लोभं स्वादं शृगारकौतुके।
अतिनिद्राऽतिसेवे च विद्यार्थी ह्यष्ट वर्जयेत्।।१०।।

यह बात सब जानते हैं कि किसी गुण को ग्रहण करने या किसी काम में पूर्ण प्रवीण होने के लिए व्यक्ति को बहुत कष्ट उठाने पड़ते हैं; उसे बहुत-सी बातें छोड़नी पड़ती हैं।

विद्यार्थी को अपने लक्ष्य की सफलता के लिए ये आठ बुराइयां छोड़ देनी चाहिएं— काम-विषय-चिन्तन, क्रोध, (अभीष्ट प्राप्ति न होने पर आपे से बाहर होना), लोभ (धन-प्राप्ति की तृष्णा), स्वाद (जिह्वा को प्रिय लगने वाले पदार्थों का सेवन), शृंगार (सजना-धजना), कौतुक (खेल-तमाशे, सिनेमा, टी०वी० आदि देखना), अतिनिद्रा (बहुत अधिक सोना) और अतिसेवा किसी दूसरे की बहुत अधिक चाकरी करना। इन आठ में से एक दुर्गुण भी उसे अपने लक्ष्य तक नहीं पहुंचने देगा।

अकृष्टफलमूलानि वनवासरतिः सदा।
कुरुतेऽहरहः श्राद्धमृषिर्विप्रः स उच्यते।।११।।

धरती पर अपने-आप उगने वाले फल-फूलों का सेवन करने वाला अर्थात् ईश्वरीय कृपा की प्राप्ति से सन्तुष्ट रहने वाला, वन में ही अनासक्त भाव से रहने वाला तथा प्रतिदिन पितरों का श्राद्ध-तर्पण करने वाला ब्राह्मण ऋषि कहलाता है।

वस्तुतः ब्राह्मण अथवा ऋषि सदैव सन्तुष्ट रहता है। उसे जो कुछ मिल

जाता है उसी में सन्तुष्ट रह कर वह विद्या का प्रचार-प्रसार करता है। वह वनों में उत्पन्न कन्द-फलमूल से ही अपना पेट भर लेता है। उसे किसी प्रकार के स्वादु भोजनों की आवश्यकता नहीं होती।

एकाहारेण सन्तुष्टः षट्कर्मनिरतः सदा।
ऋतुकालाभिगामी च स विप्रो द्विज उच्यते।।१२।।

दिन में एक समय भोजन खाकर सन्तुष्ट रहने वाला, छः कर्त्तव्य-कर्मों-यज्ञ करना-कराना, वेदों का अध्ययन और अध्यापन करना तथा दान देना और लेना—का पालन करने वाला तथा केवल ऋतुकाल में ही स्त्री का भोग करने वाला अर्थात् विषय-वासना से प्रेरित होकर नहीं अपितु केवल सन्तान को जन्म देने के लिए रतिभोग में प्रवृत्त होने वाला ब्राह्मण ही द्विज कहलाता है।

ब्राह्मण के कर्तव्यों में यज्ञ करना, दान देना तथा लेना, पढ़ना-पढ़ाना अर्थात् विद्या का प्रसार आदि बातें आती हैं। वह गृहस्थ कर्म का पालन केवल सन्तान की उत्पत्ति के ही लिए करता है, विषय-सुख के लिए नहीं।

लौकिके कर्मणि रतः पशूनां परिपालकः।
वाणिज्यकृषिकर्ता यः स विप्रो वैश्य उच्यते।।१३।।

सदा सांसारिक कार्यों में व्यस्त रहने वाला, पशुओं का पालक, व्यापार तथा कृषि-कर्म से अपनी आजीविका चलाने वाला ब्राह्मण, ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न होकर भी वैश्य कहलाता है।

प्राचीन वैदिक युग में वर्णों का विधान जन्म से नहीं माना जाता था, कर्म से माना जाता था अर्थात् ब्राह्मण-कुल में जन्म लेने वाला कर्मों के अनुसार ही वैश्य अथवा कुछ और कहलाता था।

लाक्षादि-तैल-नीलानां कुसुम्भ-मधु-सर्पिषाम्।
विक्रेता मद्यमांसानां स विप्रः शूद्र उच्यते।।१४।।

लाख आदि, तेल, नील, कपड़े रंगने के रंग, शहद, घी, मदिरा और मांस आदि का व्यापार करने वाला ब्राह्मण शूद्र कहलाता है।

स्पष्ट है कि आचार्य महोदय जन्म की अपेक्षा कर्म को ही विप्रत्व का आधार मानते हैं, परन्तु यह कह देना उचित है कि आज किसी भी वस्तु का व्यापार करने वाला व्यापारी कहलाता है, उसके लिए वस्तुविशेष कोई महत्त्व नहीं रखती।

परकार्यविहन्ता च दाम्भिकः स्वार्थसाधकः।

छली द्वेषी मृदुः क्रूरो विप्रो मार्जार उच्यते।।१५।।

दूसरों के कार्यों को बिगाड़ने वाला, पाखण्डी, अपना ही प्रयोजन सिद्ध करने वाला अर्थात् स्वार्थी, धोखेबाज, अकारण ही दूसरों से शत्रुता करने वाला, ऊपर से कोमल और अन्दर से क्रूर ब्राह्मण, निकृष्ट पशु कहलाता है, क्योंकि ये बातें मनुष्य के योग्य नहीं। ब्राह्मण को तो बहुत श्रेष्ठ माना गया है। परन्तु नीच कार्य करने वाले व्यक्ति की तुलना पशु से की जाती है।

वापी - कूप - तडागानामाराम - सुर - वेश्मनाम्।
उच्छेदने निराSSशंकः स विप्रो म्लेच्छ उच्यते।।१६।।

बावली, कूप, तालाब, बाग और देव मन्दिरों को तोड़ने-फोड़ने में संकोच न करने वाला ब्राह्मण अपने निकृष्ट कर्मों के कारण म्लेच्छ कहलाता है।

भारत में एक समय ऐसा आया था कि म्लेच्छ लोगों ने मन्दिरों आदि को तोड़ना और कुओं-नदियों, तालाबों आदि के जल को दूषित करना आरम्भ कर दिया। आचार्य ने यहां ब्राह्मण का अर्थ श्रेष्ठ पुरुष से लिया है, क्योंकि कोई भी श्रेष्ठ व्यक्ति यह काम नहीं कर सकता।

देवद्रव्यं गुरुद्रव्यं परदाराSभिमर्शनम्।
निर्वाहः सर्वभूतेषु विप्रश्चाण्डाल उच्यते।।१७।।

देवों और गुरु की सम्पत्ति को हड़प जाने वाला, दूसरों की स्त्रियों से व्यभिचार करने वाला तथा दूसरे लोगों से मांगकर अपने जीवन का निर्वाह करने वाला ब्राह्मण चाण्डाल कहलाता है।

आज लोग देव-मन्दिरों या अन्य पूजास्थलों से होने वाली आय को हड़पने के प्रयत्न में रहते हैं, उसे वे अपना ही माल समझते हैं। इसी प्रकार कुछ व्यक्तियों के लिए कोई मर्यादा ही नहीं होती। वे ब्राह्मण तो क्या, चाण्डाल से भी गये-बीते होते हैं।

देयं भोज्यधनं सदा सुकृतिभिर्नो सञ्चितव्यं कदा
श्रीकर्णस्य बलेश्च विक्रमपतेरद्यापि कीर्तिः स्थिता।
अस्माकं मधु दानभोगरहितं नष्टं चिरात् सञ्चितम्,
निर्वाणादिति पाणिपादयुगलं धर्षन्त्यहो मक्षिकाः।।१८।।

भाग्यशाली पुण्यात्माओं को खाद्य पदार्थ अर्थात् खाने-पीने की सामग्री और धन-धान्य आदि का संग्रह न करके उन्हें जरूरतमन्द लोगों को दान में दे देना चाहिए। दान देने के कारण ही आज तक बलि, कर्ण और विक्रमादित्य जैसे राजाओं की कीर्ति इस सारे संसार में व्याप्त है।

इसके विपरीत मधु का संग्रह करने वाली मधुमक्खियों का संचित मधु जब किसी कारणवश नष्ट हो जाता है, तब वे विकल होकर अपने से कहती हैं कि कितने अधिक दु:ख की बात है कि बूंद-बूंद करके श्रम से जोड़ा हमारा सारा मधु नष्ट हो गया है। हमने न तो स्वयं इसका भोग किया और न ही दूसरे को दान में दिया। इस पश्चात्ताप के कारण ही मानो मधुमक्खियां हाथों-पैरों को मलती रहती हैं।

एक ओर संग्रह का आदर्श मधुमक्खियां हैं, जिन्हें पश्चात्ताप करना पड़ता है और दूसरी ओर दान के आदर्श बलि, कर्ण और विक्रमादित्य हैं, जिनकी कीर्ति आज भी अमर है। अब बुद्धिमान् व्यक्ति को स्वयं यह निर्णय करना है कि खाद्य-पदार्थों का संग्रह उचित है अथवा उनका दान। यह बात भी विचारणीय है कि वस्तुओं का संग्रह कहां तक किया जा सकता है। संग्रह की कोई सीमा नहीं। संग्रह करना एक सामाजिक अपराध भी है, क्योंकि जब यह प्रवृत्ति बढ़ती है तो बाजार में वस्तुओं का कृत्रिम अकाल हो जाता है और दाम बढ़ने लगते हैं, जिससे सामान्य लोगों को कष्ट सहने पड़ते हैं।

बारहवां अध्याय

सानन्दं सदनं सुताश्च सुधयः कान्ता प्रियालापिनी,
इच्छापूर्तिधनं स्वयोषिति रतिः स्वाज्ञापराः सेवकाः
आतिथ्यं शिवपूजनं प्रतिदिनं मिष्टान्नपानं गृहे,
साधोः संगमुपासते च सततं धन्यो गृहस्थाश्रमः।।१।।

आचार्य चाणक्य यहां बताते हैं कि कौन गृहस्थ आनन्द से रहता हैं, अर्थात् कौन सुखी और प्रशंसा के योग्य है। जिसके घर में निरन्तर उत्सव—यज्ञ, पाठ और कीर्तन आदि—होता रहता है, सन्तान सुशिक्षित होती है, स्त्री मधुरभाषिणी, मीठा बोलने वाली होती है, आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त धन होता है, पति-पत्नी एक दूसरे में अनुरक्त हैं, सेवक स्वामिभक्त और आज्ञापालक होते हैं, अतिथि का भोजन आदि से सत्कार और शिव का पूजन होता रहता है, घर में भोज आदि से मित्रों का स्वागत होता रहता है तथा महात्मा पुरुषों का आना-जाना भी लगा रहता है, ऐसे पुरुष का गृहस्थाश्रम सचमुच ही प्रशंसनीय है। ऐसा व्यक्ति अत्यन्त सौभाग्यशाली होता है।

आर्तेषु विप्रेषु दयान्वितश्च यच्छ्रद्धया स्वल्पमुपैति दानम्।
अनन्तपारं समुपैति राजन् यद्दीयते तन्न लभेद् द्विजेभ्यः।।२।।

हे राजन्! जो दयालु यजमान आवश्यकता से ग्रस्त ब्राह्मणों पर द्रवित होकर उन्हें श्रद्धापूर्वक थोड़ा भी दान करता है, ब्राह्मणों को दिया गया वह दान उतना ही यजमान को वापस नहीं आता अपितु वह अनन्त गुणा होकर दाता को मिलता है और उसे कृतकृत्य कर देता है, अतः ब्राह्मणों को उदारतापूर्वक दान देने में यजमान का ही लाभ है।

आचार्य ने यह भी कहा है कि दान से धन की वृद्धि होती है, यश तो मिलता ही है, अतः यजमान को चाहिए कि वह दिल खोल कर उनके अभाव को दूर करने का यत्न करे जिन्हें अभाव के कारण कष्ट उठाने पड़ते हैं।

दाक्षिण्यं स्वजने दया परिजने शठ्यं सदा दुर्जने,
प्रीतिः साधुजने स्मयः खलजने विद्वज्जने चार्जवम्
शौर्यं शत्रुजने क्षमा गुरुजने नारीजने धूर्तता,
इत्थं ये पुरुषाः कलासु कुशलास्तेष्वेव लोकस्थितिः।।३।।

चाणक्य यहां बताते हैं कि किस तरह के लोग इस संसार में सुख से रह सकते हैं। उनके लिए आवश्यक है कि वे लोक-व्यवहार में प्रवीण हों। उन्हें ज्ञात होना चाहिए कि किससे कैसा व्यवहार किया जाये। इस संसार में वे ही लोग सुख और सम्मान का जीवन व्यतीत करते हैं जो सम्बन्धियों के प्रति उदारता, सेवकों के प्रति दया और दुर्जनों के प्रति कठोरता बरतते हैं, जो सज्जन पुरुषों में अनुराग रखते हैं, नीच पुरुषों के प्रति अपनी श्रेष्ठता का प्रदर्शन करते और विद्वानों के प्रति विनयशीलता बरतते हैं, शत्रुओं को अपनी शूरता का परिचय देते हैं, गुरुओं के प्रति सहनशीलता दिखाते हैं तो स्त्रियों पर अधिक विश्वास न करके उनके साथ चातुर्यपूर्ण व्यवहार करते हैं।

इस प्रकार किस श्रेणी के लोगों के साथ किस प्रकार का व्यवहार उचित है, यही बात यहां बताई गई है।

हस्तौ दानविवर्जितौ श्रुतिपुटौ सारस्वतद्रोहिणौ
नेत्रे साधुविलोकनेन रहिते पादौ न तीर्थं गतौ।
अन्यायार्जितवित्तपूर्णमुदरं गर्वेण तुंगं शिरो
रे रे जम्बुक! मुञ्च मुञ्च सहसा नीचं सुनिन्द्यं वपुः।।४।।

मनुष्य को अपने जीवन में अच्छे कर्म करने चाहिएं। चाणक्य कहते हैं कि जिस व्यक्ति ने अपने जीवन में कोई भी अच्छा काम नहीं किया उसकी लाश को हिंसक पशु भी त्याज्य समझते हैं। वन में पड़े किसी व्यक्ति के शव को खाने के इच्छुक एक गीदड़ को दूसरा वृद्ध गीदड़ समझाते हुए कहता है—भाई ! इस शव को मत खाओ, इसे छोड़ दो, क्योंकि यह शरीर एकदम निकृष्ट और निन्दनीय है। इसने अपने हाथों से कभी कुछ दान नहीं किया, कानों से कभी उत्तम शास्त्र का श्रवण नहीं किया, नेत्रों से किसी साधु-महात्माओं के दर्शन नहीं किए, पैरों से कभी तीर्थयात्रा नहीं की। इसने सदा अन्यायपूर्वक कमाए धन से ही अपना पेट भरा है और सदैव गर्व से अपना सिर ऊँचा उठाए रखा है। इस प्रकार इस व्यक्ति ने अपने जीवन-काल में अपने शरीर के किसी भी अंग का कोई सदुपयोग नहीं किया। इसलिए इसका शरीर निन्दनीय और त्याज्य है।

धर्म-कर्म से रहित मनुष्य के शरीर का पशु भी उपयोग नहीं करते।

इसलिए व्यक्ति को अपना जीवन धर्म-कर्म से सफल बनाना चाहिए।

येषां श्रीमद्यशोदासुत-पद-कमले नास्ति भक्तिर्नराणाम्।
येषामाभीरकन्या प्रियगुणकथने नानुरक्ता रसज्ञा।
तेषां श्रीकृष्णलीला ललितरसकथा सादरौ नैव कर्णौ,
धिक्तान् धिक्तान् धिगेतान्, कथयति सततं कीर्तनस्था मृदंग।।५।।

यहां चाणक्य ने मृदंग वाद्य की ध्वनि से बहुत अच्छी उपमा दी है। मृदंग से आवाज निकलती है—धिक्तान्—इसका संस्कृत में अर्थ है—उन्हें धिक्कार है। इसके आगे कवि कल्पना करता है कि जिन लोगों का भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों में अनुराग नहीं, जिनकी जिह्वा को श्री राधा जी और गोपियों के गुणगान में आनन्द नहीं आता, जिनके कान श्रीकृष्ण की सुन्दर कथा को सुनने के लिए सदा उत्सुक नहीं रहते, मृदंग भी उन्हें "धिक्कार है, धिक्कार है" कहता है। वस्तुतः जो व्यक्ति जीवन में प्रभु का गुणगान नहीं करता, उसे धिक्कार है, उसका जीवन व्यर्थ है।

पत्रं नैव यदा करीलविटपे दोषो वसन्तस्य किम्?
नोलूकोऽप्यवलोकते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूषणम्।
वर्षा नैव पतन्ति चातकमुखे मेघस्य किं दूषणम्?
यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः।।६।।

इस श्लोक में भाग्य की महिमा का ही वर्णन किया गया है। चाणक्य कहते हैं कि विधाता ने जिसके भाग्य में जो लिख दिया है, उसे कोई भी मिटा नहीं सकता। उदाहरण के रूप में यदि वसन्त ऋतु में भी करील के वृक्ष पर पत्ते तक नहीं उगते तो इसमें वसन्त का दोष न होकर करील के भाग्य का ही दोष कहा जाएगा। यदि उल्लू को दिन में दिखाई नहीं देता तो इसका अर्थ यह नहीं कि सूर्य के प्रकाश की सीमा है। उसका तो एक ही स्पष्ट अर्थ है कि उल्लू के भाग्य में दिन में देखना लिखा ही नहीं। इसी प्रकार यदि वर्षा की बूंदें चातक के मुख में नहीं जातीं तो इसके लिए मेघ को दोषी नहीं ठहराया जा सकता, क्योंकि जब चातक के भाग्य में ही नहीं तो उसे मूसलाधार बरसने वाले मेघ का जल कहां से मिल सकता है? इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि भाग्य प्रबल है और भाग्य का लिखा ही मनुष्य को मिलता है। भाग्य में लिखे को कोई भी घटा-बढ़ा नहीं सकता। होनी प्रबल है, उसे मिटाना कठिन है।

सत्संगाद् भवति हि साधुता खलानां,
साधूनां न हि खलसंगयात् खलत्वम्।

आमोदं कुसुम-भवं मृदेव धत्ते,
मृद्गन्धं न हि कुसुमानि धारयन्ति।।७।।

वैसे तो कहा जाता है कि संगति का प्रभाव पड़ता है, परन्तु यह भी सच है कि सज्जन अथवा श्रेष्ठ पुरुषों पर दुष्टों की संगति का कोई प्रभाव नहीं होता। चाणक्य कहते हैं कि जिस प्रकार धरती पर खिले पुष्पों की सुगन्ध तो मिट्टी में आ जाती है, परन्तु पुष्पों में मिट्टी की गन्ध नहीं आने पाती, उसी प्रकार सज्जनों के संग से दुष्ट तो कभी सुधर भी जाते हैं, परन्तु उन दुर्जनों की संगति से सज्जनों को कोई हानि नहीं होती अर्थात् वे दुष्टता का अंशमात्र भी नहीं अपनाते।

परन्तु ऐसा केवल दृढ़ चरित्र के कारण ही संभव होता है।

साधूनां दर्शनं पुण्यं तीर्थभूता हि साधवः।
कालेन फलति तीर्थं सद्यः साधुसमागमः।।८।।

चाणक्य कहते हैं कि कुछ बातें तत्काल फलदायक होती हैं और कुछ बातें देर से फल प्रदान करती हैं। उनका कहना है कि साधु-महात्मा साक्षात् तीर्थ-स्वरूप हैं अर्थात् तीर्थों के सेवन जैसा पुण्य ही साधुओं के दर्शनों से भी प्राप्त होता है। तीर्थयात्रा का फल तो समय आने पर मिलता है, परन्तु साधु-सज्जनों के संग और दर्शन से तत्काल लाभ हो जाता है, क्योंकि वे कोई अच्छी बात ही कहेंगे या कोई अच्छी सीख ही देंगे।

विप्राऽस्मिन् नगरे महान् कथय कस्तालद्रुमाणां गणः,
को दाता रजको ददाति वसनं प्रातर्गृहीत्वा निशि।
को दक्षः परवित्तदारहरणे सर्वोपि दक्षो जनः,
कस्माज्जीवसि हे सखे ! विषकृमिन्यायेन जीवाम्यहम्।।९।।

यहां आज के संसार की स्थिति का वर्णन चाणक्य ने बहुत ही अच्छे उदाहरण देकर किया है। यात्रा करते हुए पथिक ने मार्ग में पड़ने वाले एक नगर के ब्राह्मण से उस नगर के सम्बन्ध में जानकारी लेने के उद्देश्य से पूछा—हे ब्राह्मण ! जरा बताइए कि इस नगर में बड़ा किसे माना जाता है? पथिक का उद्देश्य विद्या, कला, विज्ञान आदि की स्थिति के सम्बन्ध में जानकारी लेना था। ब्राह्मण ने उत्तर दिया—भाई ! यहां तो ताल वृक्षों को ही सबसे ऊंचा व सबसे बड़ा माना जाता है अर्थात् यहां विद्वान्, शूरता तथा कुलीनता आदि गुणों की कोई महत्ता नहीं।

पथिक ने पूछा—इस नगर में दानशीलता की क्या स्थिति है? अर्थात् दानी महानुभाव तो काफी संख्या में हैं न? ब्राह्मण ने उत्तर दिया—बन्धु ! यहां तो

धोबी ही सबसे बड़ा दानी है, जो सवेरे कपड़े लेकर शाम को स्वामी को लौटा देता है अर्थात् यहां दान की भी कोई प्रथा नहीं है।

पथिक ने कहा—यहां लोक-व्यवहार में चतुर व्यक्ति किसे माना जाता है? ब्राह्मण ने उत्तर दिया—जिस प्रकार विष का कीड़ा विष में ही जीता है, उसी प्रकार मेरा भी यहां रहने का स्वभाव बन गया है। यही आज के संसार की और संसार में रहने वाले लोगों की स्थिति है। वस्तुतः लम्बा होने या डींग हांकने से बड़ा नहीं होता; किसी से कोई चीज मांग कर लौटाने वाला अपने को दानी नहीं कह सकता; परन्तु आज संसार इसी प्रकार की बातों पर चल रहा है।

न विप्रपादोदक-कर्दमानि, न वेदशास्त्र-ध्वनि-गर्जितानि।
स्वाहा-स्वधाकार विवर्जितानि, श्मशानतुल्यानि गृहाणि तानि।।१०।।

जिन घरों में ब्राह्मणों के पैर नहीं धोए जाते अर्थात् जहां उनका मान-सम्मान नहीं होता, उन्हें भोजनादि से सन्तुष्ट नहीं किया जाता, वेद-शास्त्रों के पाठ की ध्वनि नहीं गूंजती तथा यज्ञ-यागादि से देव-पूजन नहीं होता, वे घर, घर न होकर श्मशान के सदृश हैं।

अर्थात् सद्गृहस्थ को चाहिए कि वह समय-समय पर यज्ञ-यागादि, कथा-कीर्तन तथा ब्राह्मण-भोज की व्यवस्था करता रहे। इसी में गृहस्थ की सार्थकता है।

सत्यं माता पिता ज्ञानं धर्मो भ्राता दया स्व सा।
शान्तिः पत्नी क्षमा पुत्रः षडेते मम बान्धवाः।।११।।

जिन व्यक्तियों ने इस संसार के माया-मोह को त्याग दिया है, जीवन में उनका भी कोई सहारा होता है। यहां चाणक्य उन्हीं की ओर इशारा करके कहते हैं कि विरक्त मनुष्य घर-संसार के माया-मोह को छोड़कर यह भावना अपनाता है और घोषणा करता है कि अब सत्य मेरी माता है, ज्ञान मेरा पिता है, धर्म मेरा भाई है, दया मेरी बहन है, शान्ति मेरी पत्नी है और क्षमा मेरा पुत्र है। इस प्रकार सत्य-ज्ञानादि ही अब मेरे सच्चे साथी, हितसाधक और सम्बन्धी हैं।

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः।
नित्यं सन्निहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः।।१२।।

यह संसार नश्वर है, अनित्य है, नष्ट होने वाला है, तो भी लोभी मानव अधर्माचरण में लिप्त रहता है। चाणक्य ने कहा है कि शरीर अनित्य है, धन-सम्पत्ति भी सदा रहने वाली नहीं है। हां, मृत्यु नित्य है अर्थात् जो भी

उत्पन्न हुआ है, वह एक न एक दिन अवश्य मरेगा। मृत्यु का दिन कब आएगा—इस चिन्ता से ग्रस्त व्यक्ति मृत्यु को सदैव अपने समीप ही समझता है और ऐसा समझना भी चाहिए। ऐसी स्थिति में मनुष्य को यथाशीघ्र धर्म-संग्रह में प्रवृत्त हो जाना चाहिए। जीवन के उपरान्त धर्म ही मनुष्य का सच्चा मित्र है अर्थात् धर्म पर चलते रहने के कारण ही उसका यश संसार में फैलता है, धर्म के कारण ही व्यक्ति अमर हो जाता है।

निमन्त्रणोत्सवा विप्रा गावो नवतृणोत्सवाः।
पत्युत्साहयुता नार्याः अहं कृष्ण-रणोत्सवः।।१३।।

जिस प्रकार यजमान से निमन्त्रण पाना ही ब्राह्मणों के लिए प्रसन्नता का अवसर होता है अर्थात् निमन्त्रण पाकर ब्राह्मणों को स्वादिष्ट भोजन तथा दान-दक्षिणादि सुलभ होते हैं, जैसे हरी घास मिल जाना गौओं के लिए उत्सव अथवा प्रसन्नतादायक बात होती है इसी प्रकार पति की प्रसन्नता स्त्रियों के लिए उत्सव होती है, परन्तु मेरे लिए तो भीषण रणों में अनुराग ही जीवन की सार्थकता अर्थात् उत्सव है।

मातृवत् परदारेषु परद्रव्याणि लोष्ठवत्।
आत्मवत् सर्वभूतानि यः पश्यति सः पण्डितः।।१४।।

व्यक्ति को चाहिए कि अन्य व्यक्तियों की स्त्रियों को माता समझे, दूसरों के धन पर नजर न रखे और सभी लोगों को अपनी तरह ही समझे। आचार्य ने कहा है कि दूसरों की स्त्रियों को माता के समान, पराये धन को मिट्टी के ढेले के समान और सभी प्राणियों को अपने समान देखने वाला ही सच्चे अर्थों में ऋषि और विवेकशील पण्डित कहलाता है।

धर्मे तत्परता मुखे मधुरता दाने समुत्साहता,
मित्रेऽवञ्चकता गुरौ विनयता चित्तेऽतिगम्भीरता।
आचारे शुचिता गुणे रसिकता शास्त्रेषु विज्ञानता,
रूपे सुन्दरता शिवे भजनता त्वय्यस्ति भो राघवः।।१५।।

गुरुदेव महर्षि वसिष्ठ के शब्दों में भक्त श्रीराम को सम्बोधित करके कहता है कि हे राघव! निम्नोक्त सभी दिव्य गुण अपने समग्र और उत्कृष्ट रूप में एकमात्र आप में ही मिलते हैं। यही कारण है कि आप "पुरुषोत्तम" कहे जाते हैं। वे दिव्य गुण हैं— धर्म के निर्वाह में तत्पर रहना, सदा उद्यत रहना, मधुर वाणी का प्रयोग, दान करने में रुचि रहना और उत्साह, मित्र से निश्छल व्यवहार, गुरु के प्रति विनम्रता, चित्त में अत्यन्त गम्भीरता—ओछेपन का

अभाव, आचार-व्यवहार में पवित्रता, गुण ग्रहण करने के प्रति आग्रह अर्थात् गुण-ग्रहण की प्रवृत्ति, शास्त्रों में निपुणता, रूप में सुन्दरता और शिव में विशिष्ट भक्ति ही दिखाई देती है।

काष्ठं कल्पतरुः सुमेरुरचलश्चिन्तामणिः प्रस्तरः
सूर्यस्तीव्रकरः शशी क्षयकरः क्षारो हि वारां निधिः।
कामो नष्टतनुर्बलिर्दितिसुतो नित्यं पशुः कामगौः,
नैतांस्ते तुलयामि भो रंघुपते! कस्योपमा दीयते।।१६।।

हे राम राघवेन्द्र ! इस संसार में ऐसा कुछ नहीं जिससे आपकी उपमा दी जाय। इस कारण आप सर्वथा अनुपम और अद्वितीय हैं। उदाहरणार्थ कल्पवृक्ष कामनाओं की पूर्ति करता है, पर काठ है। सुमेरु धन का भण्डार है परन्तु वह पर्वत है। चिन्तामणि चिन्ताओं को नष्ट करता है, पत्थर है। सूर्य की किरणें बहुत अधिक प्रकाश देती हैं, परन्तु तीखी और जलाने वाली हैं। चन्द्र शान्त-शीतल है, पर क्षयरोग से पीड़ित माना जाता है अर्थात् उसमें भी धब्बे हैं। समुद्र खारे जल वाला है, कामदेव का शरीर ही नष्ट हो चुका है, बलि दैत्यवंश से सम्बद्ध है और सब इच्छाओं की पूर्ति करने वाली कामधेनु एक गाय ही तो है। इस प्रकार आपके समान कोई भी नहीं। काठ, पत्थर, खारेपन और पशु आदि से आपकी तुलना किस प्रकार दी जा सकती है?

वस्तुतः आप कल्पवृक्ष से बढ़कर दानी, सुमेरु पर्वत से अधिक उन्नत, चिन्तामणि से अधिक उज्ज्वल, सूर्य से अधिक तेजस्वी, चन्द्र से अधिक आकर्षक, समुद्र से अधिक गम्भीर, कामदेव से अधिक सुन्दर, बलि से अधिक यशस्वी और कामधेनु से अधिक मनोवाञ्छित फल प्रदान करने वाले हैं। इन सबसे अधिक उपमा नहीं दी जा सकती अर्थात् आप इन सबसे महान् हैं।

विनयं राजपुत्रेभ्यः पण्डितेभ्यः सुभाषितम्।
अनृतं द्यूतकारेभ्यः स्त्रीभ्यः शिक्षेत् कैतवम्।।१७।।

व्यक्ति सभी से कुछ न कुछ सीख सकता है। उसे राजपुत्रों से विनयशीलता और नम्रता की, पण्डितों से बोलने के उत्तम ढंग की, जुआरियों से असत्य-भाषण के रूप-भेदों की तथा स्त्रियों से छल-कपट की शिक्षा लेनी चाहिए।

अभिप्राय स्पष्ट है राजपुत्र विनम्र, पण्डित मिष्टभाषी, द्यूतकार मिथ्यावादी तथा स्त्रियां छल-कपट में निपुण होती हैं। अर्थात् यदि मनुष्य में कुछ सीखने या ग्रहण करने की चाह हो तो वह छोटे से छोटे व्यक्ति से भी कुछ न कुछ सीख सकता है।

अनालोक्य व्ययं कर्ता ह्यनाथः कलहप्रियः।
आतुरः सर्वक्षेत्रेषु नरः शीघ्रं विनश्यति।।१८।।

अपनी सीमा अर्थात् आय के साधनों की उपेक्षा करके अन्धाधुन्ध खर्च करने वाला, सहायकों के न होने पर भी दूसरों से झगड़ा बढ़ाने वाला और सभी स्त्रियों (बाला, युवती, वृद्धा, स्वस्थ-अस्वस्थ, सुन्दरी-असुन्दरी, उच्चवर्णा तथा निम्नवर्णा) से सम्भोग करने वाला व्यक्ति शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।

स्पष्ट है कि आय के अनुसार ही व्यय करना चाहिए, सहायक न हो तो विरोधी से भी झगड़ा नहीं करना चाहिए और आयु, स्वास्थ्य तथा ग्राह्यता-अग्राह्यता की परीक्षा किए बिना परस्त्री से सम्भोग नहीं करना चाहिए। जो आदमी हर बात में उतावला रहता है उसे कष्ट उठाने पड़ते हैं। चाणक्य कहते हैं कि वह नष्ट ही हो जाता है।

नाहारं चिन्तयेत्प्राज्ञो धर्ममेकं हि चिन्तयेत्।
आहारो ही मनुष्याणां जन्मना सह जायते।।१९।।

मनुष्य को अन्य सब बातों की चिन्ता छोड़कर केवल एक बात की ही चिन्ता करनी चाहिए और वह है धर्म-संग्रह की। बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि वह खाने-पीने की चिन्ता न करके एकमात्र धर्म के अनुष्ठान में ही प्रवृत्त रहे, क्योंकि आहार तो मनुष्य के जन्म के साथ उत्पन्न होता है अर्थात् जो उसके भाग्य में है, वह उसे मिलना ही है। "दाने-दाने पर लिखा है खाने वाले का नाम।" अतः आजीविका की चिन्ता न करके धर्म-साधन की ही चिन्ता करनी चाहिए।

जलबिन्दुनिपातेन क्रमशः पूर्यते घटः।
स हेतुः सर्वविद्यानां धर्मस्य च धनस्य च।।२०।।

जिस प्रकार पानी की एक-एक बूंद से धीरे-धीरे सारा मटका भर जाता है, उसी प्रकार एक-एक अक्षर प्रतिदिन पढ़ने से मनुष्य भी विद्वान् बन जाता है। प्रतिदिन एक-एक पैसा जोड़ने से व्यक्ति धनवान् बन जाता है तथा थोड़ा-थोड़ा धर्मानुष्ठान करने से धार्मिक बन जाता है, अतः इस विषय में थोड़े को बहुत समझ कर उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

"बूंद-बूंद से घट भरे टपकत रीतो होय" वाली बात प्रायः सभी जानते हैं, पर अधिकांश व्यक्ति एकाएक धनी होना चाहते हैं। साधारण व्यक्ति थोड़ी-थोड़ी बचत से भी बहुत-कुछ कर सकता है।

वयसः परिणामेऽपि यः खलः खल एव सः।

सुपक्वमपि माधुर्यं नोपयातीन्द्रवारुणम्।।२१।।

जिस प्रकार इन्द्रायण का फल पक जाने पर भी अपनी कटुता छोड़ कर मधुर नहीं हो जाता, उसी प्रकार आयु के ढल जाने अर्थात् बुढ़ापा आ जाने पर भी दुष्ट व्यक्ति अपनी दुष्टता नहीं छोड़ पाता, दुष्टता उसका स्वभाव बन जाने से कभी छूटती नहीं।

इस प्रकार दुष्ट व्यक्ति के प्रौढ़ हो जाने पर भी उस पर विश्वास नहीं करना चाहिए। केवल आयु व्यक्ति की श्रेष्ठता की परिचायक नहीं।

तेरहवां अध्याय

मुहूर्तमपि जीवेच्च नरः शुक्लेन कर्मणा।
न कल्पमपि कष्टेन लोकद्वयविरोधिना।।१।।

लोग दीर्घ जीवन की कामना करते हैं, परन्तु वे यह नहीं जानते कि उस दीर्घ जीवन का क्या लाभ जिसमें न कोई सुख हो और न कोई शुभ कर्म। चाणक्य कहते हैं कि लोक-परलोक में निषिद्ध कर्मों को करते हुए और घोर कष्ट उठाते हुए हज़ारों वर्षों के जीवन की अपेक्षा शुभ कर्म करते हुए सुख के एक क्षण का जीवन अधिक अच्छा और वाञ्छनीय है।

स्पष्ट है कि दुःख के लम्बे जीवन की अपेक्षा सुख का अल्प जीवन ही सबको अच्छा लगता है।

गते शोको न कर्तव्यो भविष्यं नैव चिन्तयेत्।
वर्तमानेन कालेन प्रवर्तन्ते विचक्षणाः।।२।।

बीती हुई घटना का शोक नहीं करना चाहिए, क्योंकि जो बीत गया, वह तो बीत गया, उसे बदला नहीं जा सकता। इसके अतिरिक्त चाणक्य का मत है कि भविष्य की भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जो अभी आया ही नहीं, उसके विषय में पहले से ही दुःखी होते रहना निरर्थक है। बुद्धिमान् व्यक्ति वही है जो वर्तमान के सम्बन्ध में ही सोच-विचार करता है; उसी को सुधारने का प्रयत्न करता है।

भूत और भविष्य पर विचार करने की अपेक्षा वर्तमान का चिन्तन करने में ही बुद्धिमत्ता है, क्योंकि वर्तमान ही अपना है।

स्वभावेन हि तुष्यन्ति देवाः सत्पुरुषाः पिता।
ज्ञातयः स्वन्न-पानाभ्यां वाक्यदानेन पण्डिताः।।३।।

कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जिन्हें प्रसन्न करने के लिए किसी विशेष श्रम की

आवश्यकता नहीं होती।

देवजन, सज्जन और पिता तो अपने भक्त, आश्रित और पुत्र पर स्वभाव से ही प्रसन्न रहते हैं। उन्हें प्रसन्न करने के लिए किसी प्रयास अथवा आयोजन की आवश्यकता नहीं रहती। जाति-बन्धु खिलाने-पिलाने से और ब्राह्मण सम्मानपूर्ण संभाषण से प्रसन्न होते हैं, अर्थात् सज्जन व्यक्ति तो प्रेमपूर्ण व्यवहार से ही प्रसन्न हो जाता है। उसे किसी अन्य दिखावटी कार्य की आवश्यकता नहीं होती।

जाति-बिरादरी के लोगों के खिला-पिलाकर प्रसन्न रखना चाहिए और ब्राह्मणों को आदर-सम्मानपूर्वक प्रसन्न किया जा सकता है।

अहो बत विचित्राणि चरितानि महात्मनाम्।
लक्ष्मीं तृणाय मन्यन्ते तद्भारेण नमन्ति च।।४।।

महात्मा लोग बहुत विचित्र होते हैं। उनका चरित्र सचमुच ही आश्चर्यजनक होता है। वे एक ओर तो लक्ष्मी को तिनके के समान तुच्छ समझते हैं, उन्हें धन की चिन्ता नहीं होती और दूसरी ओर यदि उनके पास लक्ष्मी आ जाती है तो वे अत्यधिक नम्र हो जाते हैं। स्पष्ट है कि यद्यपि उन्हें धन-सम्पत्ति की अपेक्षा नहीं रहती, तथापि धन-सम्पत्ति पाकर वे उद्धत अथवा उद्दण्ड नहीं हो जाते।

समृद्धि की चाहना न करना और समृद्धि आने पर उद्दण्ड न होना महापुरुषों का लक्षण है। वे सदा नम्र बने रहते हैं।

यस्य स्नेहो भयं तस्य स्नेहो दुःखस्य भाजनम्।
स्नेहमूलानि दुःखानि तानि त्यक्त्वा वसेत् सुखम्।।५।।

मनुष्य को जिस व्यक्ति से स्नेह होता है, वह उसके सम्बन्ध में ही चिन्ता करता है। जो व्यक्ति जिस मनुष्य के प्रति स्नेह रखता है, वह उसी के दुःख-सुख अथवा नाराज या प्रसन्न होने की चिन्ता और भय से ग्रस्त रहता है। जिस व्यक्ति के साथ किसी प्रकार का लगाव नहीं, उसके दुःखी अथवा सुखी होने से उसे क्या लेना-देना? इससे स्पष्ट है कि दुःख का मूल कारण स्नेह है। इसलिए ज्ञानवान् व्यक्ति को चाहिए कि वह अधिक लगाव का परित्याग कर दे, जिससे कि वह अपना जीवन सुखपूर्वक बिता सके। यहां स्नेह का अर्थ मोह है और सब जानते हैं कि मोह दुःख की जड़ है।

अनागतविधाता च प्रत्युत्पन्नमतिस्तथा।
द्वावेते सुखमेधेते यद्भविष्यो विनश्यति।।६।।

सुख-दुःख व मान-सम्मान जीवन के दो पहलू हैं। जो उनमें लिप्त नहीं होता वह प्रसन्न रहता है। दुःख-संकट के आने से पूर्व ही उसके निवारण का उपाय सोचने वाला तथा संकट आ जाने पर उसी समय उससे बचाव की सुझ-बूझ रखने वाला—ये दोनों व्यक्ति तो सुखी रहते हैं, परन्तु जो व्यक्ति यह सोचता है कि जो होना है वह होकर ही रहना है, इसलिए बचाव की चेष्टा करने से क्या लाभ? ऐसा व्यक्ति सदैव दुःख पाता है और शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।

अभिप्राय यह है कि भाग्य के सहारे न रहकर आने वाले संकट से बचने का पहले से ही उपाय सोच लेना अथवा संकट आने के समय सोचना ही अच्छा है। मनुष्य को पुरुषार्थ अवश्य करना चाहिए। पुरुषार्थी व्यक्ति संकट को पार कर लेता है। जो यह सोचता है कि जो कुछ होगा देखा जाएगा, वह नष्ट हो जाएगा। व्यक्ति को उद्यम करना चाहिए। भाग्य के भरोसे नहीं बैठ रहना चाहिए।

राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठः पापे पापाः समे समाः।
राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः।।७।।

जैसे नेता होते हैं, अनुयायी भी वैसे ही होते हैं। यदि राजा धर्मात्मा होता है तो प्रजा भी धार्मिक होती है। राजा के पापी होने पर प्रजा में पापाचार फैल जाता है और राजा के धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप से उदासीन होने पर प्रजा भी कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के विवेक से उदासीन अर्थात् धर्मविमुख हो जाती है। सिद्धान्ततः निष्कर्ष यह है कि प्रजा वैसी ही बन जाती है, अतः राजा को सदैव धर्मानुयायी होना आवश्यक है। यह नियम सभी स्थानों पर लागू होता है। घर में भी मां-बाप जैसे काम करेंगे सन्तान भी वही करेगी।

जीवन्तं मृतवन्मन्ये देहिनं धर्मवर्जितम्।
मृतो धर्मेण संयुक्तो दीर्घजीवी न संशयः।।८।।

आचार्य चाणक्य कहते हैं कि धर्म से विमुख लोगों को मैं मृतवत् समझता हूं। धार्मिक व्यक्ति मरने के बाद अपनी कीर्ति के कारण जीवित रहता है, इसमें कोई संशय नहीं। मनुष्य-शरीर धारण करके न इस लोक में सुख पाता है अर्थात् अर्थ का उपार्जन कर अपनी कामनाओं की पूर्ति नहीं करता है और न ही अपना परलोक सुधारता है अर्थात् धर्माचरण द्वारा मोक्ष का पथ्य प्रशस्त नहीं करता।

धर्मार्थकाममोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते।
अजागलस्तनस्यैव तस्य जन्म निरर्थकम्।।९।।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों में दो—धर्म और मोक्ष—का सम्बन्ध परलोक से है, और दो—अर्थ और काम—का सम्बन्ध इस लोक से है। जो जीव

मानव शरीर पाकर भी इन चारों में से किसी एक को भी पाने का प्रयास नहीं करता, उसका जन्म बकरे के गले में लटकते स्तन के समान सर्वथा निरर्थक है। मनुष्य की सार्थकता चार पुरुषार्थों में ही है।

दह्यमानाः सुतीव्रेण नीचाः परयशोऽग्निना।
अशक्तास्तत्पदं गन्तुं ततो निन्दां प्रकुर्वते।।१०।।

दुष्ट आदमी दूसरों की कीर्ति को देखकर जलता है। जब स्वयं वह उन्नति नहीं कर पाता तो वह दूसरों की निन्दा करने लगता है।

दूसरों की व्यापक और सुतीव्र कीर्तिरूपी आग से जलते हुए दुष्ट व्यक्ति जब स्वयं उस उच्च पद को पाने और कीर्तिलाभ करने में अपने को असमर्थ पाते हैं तो वे यशस्वी महानुभावों की निन्दा करने लग जाते हैं। 'अंगूर खट्टे हैं' की नीति के अनुसार दुष्ट व्यक्ति सम्पन्न व्यक्तियों के प्रशंसनीय कार्यों को भी तुच्छ बताने लग जाते हैं।

दुष्टों में प्रबल ईर्ष्या होती है। वे पहले तो यह दिखाना चाहते हैं कि जिन कर्मों के कारण सज्जनों की प्रशंसा हो रही है, वे सभी कर्म वे भी कर सकते हैं, परन्तु जब अपने इस प्रयास में वे सफल नहीं हो पाते तो उत्कृष्ट कर्मों को ही निकृष्ट बता कर सज्जनों की निन्दा करने लग जाते हैं। परनिन्दा का चस्का जिसे लग जाता है, वह छूटना भी कठिन है।

बन्धाय विषयाऽऽसक्तं मुक्त्ये निर्विषयं मनः।
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।।११।।

मनुष्य का लक्ष्य इस संसार से मुक्ति प्राप्त करना होता है। यदि वह विषयों—काम, क्रोध, लोभ तथा मोहादि में पड़ जाता है तो वह आवागमन के बन्धन में पड़ जाता है। विषयों में आसक्ति को हटाने से मनुष्य मुक्ति प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार की मुक्ति और उसके बन्धन का कारण उसका अपना मन ही है। मन यदि मोहादि से युक्त है तो जीव बन्धन में पड़ा है और यदि मन सभी विषयों से मुक्त है तो वह आवागमन के बन्धन से भी मुक्त हो जाता है, अतः मनुष्य को मुक्ति की प्राप्ति के लिए अपने मन को विकाररहित बनाने का प्रयास करना चाहिए। मानसिक विचारों को पवित्र बनाना आवश्यक है।

देहाभिमाने गलितं ज्ञानेन परमात्मनि।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः।।१२।।

आत्मा और शरीर दो भिन्न चीजें हैं। जब व्यक्ति को यह ज्ञान होता है तो वह इस संसार से अपने को पृथक् समझने लगता है। परम तत्त्वज्ञान प्राप्त कर

लेने पर जब मनुष्य का देहाभिमान नष्ट हो जाता है अर्थात् वह अपने को शरीर न मानकर उससे भिन्न मानने लगता है, तब उस स्थिति में उसका मन जहां-कहीं भी जाता है, वहीं उसे समाधि की अनुभूति होती है अर्थात् वह जागृत अवस्था में ही समाधि की स्थिति में आ जाता है। उस समय उसे सांसारिक विकार नहीं घेरते।

ईप्सितं मनसः सर्वं कस्य सम्पद्यते सुखम्।
दैवाऽऽयत्तं यतः सर्वं तस्मात् सन्तोषमाश्रयेत्।।१३।।

इस संसार में मनुष्य की सभी इच्छाएं पूरी नहीं होतीं। किसी को भी मनचाहा सुख नहीं मिलता। वस्तुतः सुख-दुःख की प्राप्ति मनुष्य के अपने हाथ में न होकर ईश्वर के अधीन है। यह सोचकर मनुष्य को जितना भी मिलता है, उतने से ही सन्तोष करना चाहिए। सुख मिलने पर उन्मत्त नहीं होना चाहिए और दुःख आने पर हाय-हाय नहीं करनी चाहिए। मनुष्य असहाय है। उसे चाहिए कि प्रयत्न करने पर जो कुछ प्राप्त हो उससे सन्तोष करे।

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो गच्छति मातरम्।
तथा यच्च कृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति।।१४।।

मनुष्य को कर्मों के अनुरूप ही फल मिलता है। कर्म और फल का अटूट सम्बन्ध है' जिस प्रकार बछड़ा सहस्रों गायों के बीच में खड़ी अपनी माता को ढूंढ निकालता है, उसी प्रकार मनुष्य का कर्म भी फल के लिए कर्ता को ढूंढ लेता है अर्थात् किए गए कर्म के फलभोग से मनुष्य बच नहीं सकता, अतः मनुष्य को सदैव श्रेष्ठ कर्मों का ही अनुष्ठान करना चाहिए ताकि उसे श्रेय प्राप्त हो।

अनवस्थितकार्यस्य न जने न वने सुखम्।
जने दहति संसर्गो वने संगविवर्जनम्।।१५।।

मनुष्य का ध्येय निश्चित होना चाहिए। कर्त्तव्य-पथ का निश्चय न कर सकने वाले व्यक्ति को न घर में सुख मिलता है और न ही वन में सुख मिलता है। घर उसे आसक्ति—परिवार के सदस्यों तथा धन-सम्पत्ति में मोह—के कारण काटता है और वन अपने परिवार को छोड़ने के दुःख और अकेलेपन की पीड़ा से व्यथित करता है।

सच्चा सुख न घर-गृहस्थ में है और न ही गृह-परिवार के त्याग में है। सच्चा सुख तो कर्त्तव्य-पथ का निर्णय कर उस पर चलने में ही है।

जो व्यक्ति अपने ध्येय का निश्चय नहीं कर पाते, वे आयु-भर भटकते रहते हैं। उन्हें कहीं भी सुख नहीं मिलता।

खनित्वा हि खनित्रेण भूतले वारि विन्दति।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति।।१६।।

जिस प्रकार फावड़े से खुदाई करने वाला पृथिवी के नीचे के जल को निकाल लेता है, उसी प्रकार गुरु की सेवा करने वाला भी गुरु के हृदय में स्थित विद्या को प्राप्त कर लेता है।

स्पष्ट है कि विद्या-प्राप्ति का उपाय निश्छल भाव से गुरु की सेवा ही है। आज के युग में मान्यताएं बदल गई हैं। प्राचीन काल जैसा गुरु-शिष्य-भाव नहीं रहा, परन्तु इससे हानि ही हुई है। गुरु-शिष्य के मधुर सम्बन्ध स्थापित होना आवश्यक है।

कर्मायत्तं फलं पुंसां बुद्धिः कर्मानुसारिणी।
तथापि सुधियश्चार्याः सुविचार्यैव कुर्वते।।१७।।

मनुष्य जैसे कार्य करता है, उसके विचार, उसकी बुद्धि, उसकी भावनाएं वैसी ही बन जाती हैं। यह निश्चित है कि मनुष्य को उसके पूर्व-जन्मों के अच्छे-बुरे कर्मों के अनुरूप ही सुख-दुःख मिलता है। इसी प्रकार फल-प्राप्ति कर्मों के अधीन है और जैसे कर्म होते हैं, वैसा ही फल मिलता है, उस समय बुद्धि भी वैसी ही बन जाती है, तथापि बुद्धिमान् और श्रेष्ठ पुरुष अपनी ओर से सोच-विचार कर ही कार्य करते हैं; अपने विचारों से उपस्थित विपत्ति पर काबू पा लेते हैं। अतः मनुष्य के लिए आवश्यक है कि विपत्ति में सोच-समझ कर आचरण करे और विपत्ति पर काबू पा ले।

एकाक्षरप्रदातारं यो गुरुं नाभिवन्दति।
श्वानयोनिशतं भुक्त्वा चाण्डालेष्वभिजायते।।१८।।

"ओ३म् इत्येकाक्षरं ब्रह्म" अर्थात् ब्रह्म का नाम ओ३म् है अथवा "तत्त्वमसि" अर्थात् तू ही ब्रह्म है। इस प्रकार एक मन्त्र के रूप में सच्चे तत्त्वज्ञान का उपदेश देने वाले गुरु की जो व्यक्ति वन्दना नहीं करता, वह सौ बार कुत्ते की योनि में जन्म लेने के उपरान्त चाण्डाल योनि में उत्पन्न होता है।

शिष्य के लिये गुरु सभी प्रकार से सम्माननीय एवं आदरणीय होता है, क्योंकि गुरु ही मानव को सच्चा ज्ञान देता है, अर्थात् गुरु ही मनुष्य को सच्चे अर्थों में मानव बनाता है। उसका आदर-सत्कार करना शिष्य का कर्तव्य है।

युगान्ते प्रचलते मेरुः कल्पान्ते सप्त सागराः।
साधवः प्रतिपन्नार्थान् न चलन्ति कदाचन।।१९।।

युग के अन्त में सुमेरु पर्वत का चलायमान होना सम्भव है, कल्प के अन्त में सातों समुद्रों का अपनी मर्यादा का त्याग सम्भव है, परन्तु सज्जन-महात्मा युग-युगान्तर में भी अपनी संकल्प एवं अपनी प्रतिज्ञा से कभी विचलित नहीं होते। वे अपने निश्चय पर सदैव अडिग रहते हैं, अतः उनका कथन सदैव विश्वसनीय होता है।

सांसारिक व्यवस्थाओं में परिवर्तन होने की सम्भावना हो सकती है, परन्तु सज्जन कभी भी अपने निर्धारित मार्ग से नहीं हटता। वह अपनी मान्यताओं का त्याग नहीं करता।

चौदहवां अध्याय

पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि जलमन्नं सुभाषितम्।
मूढैः पाषाणखण्डेषु रत्नसंज्ञा विधीयते।।१।।

आचार्य चाणक्य ने इस श्लोक में तीन चीजों की महिमा का वर्णन किया है, जो सच्चे अर्थों में रत्न अर्थात् मूल्यवान् पदार्थ हैं; ये हैं—जल, अन्न और मधुर तथा हितकारी वचन। आचार्य कहते हैं कि समझदार व्यक्ति इन तीनों की परख रखता है। केवल मूर्ख लोग ही पत्थर के टुकड़ों को रत्न कहते हैं।

यह कथन सही है कि यदि मानव को अन्न और जल ही सुलभ न हो तो उसका जीवन ही सम्भव नहीं। अन्न और जल के बिना मानव एक दिन भी नहीं चल सकता। मीठे वचन बोलने से मानव का हृदय शीतल हो जाता है। मधुर वचन से व्यक्ति दूसरों को अपनी ओर आकर्षित करता है। पुरानी कहावत है कि कागा कासों लेत है कोयल काको देत, मीठे वचन सुनाय के जग अपना कर लेत। अतः स्पष्ट है कि मीठी वाणी बोलने से मानव अन्य व्यक्तियों को अपनी ओर आकर्षित करता है।

आचार्य चाणक्य कहते हैं कि मानव को इन तीनों चीजों को ही अत्यन्त मूल्यवान् समझना चाहिए क्योंकि इनसे ही जीवन-नैया चलती है।

आत्माऽपराधवृक्षस्य फलान्येतानि देहिनाम्।
दारिद्र्यदुःखरोगाणि बन्धनव्यवसानि च।।२।।

आचार्य चाणक्य इस श्लोक में कहते हैं कि मनुष्य जैसे कर्म करता है, उसको वैसा ही फल भी प्राप्त होता है। मनुष्य द्वारा किये गये पाप-कर्मों के ही फल हैं—दरिद्रता, दुःख, रोग, बन्धन (जेल, हथकड़ी) तथा आपत्ति (स्त्री-पुत्रादि की मृत्यु, धन का नाश, मुकद्दमा अथवा सार्वजनिक रूप में अपमान आदि)।

अतः स्पष्ट है कि मनुष्य द्वारा किए गए बुरे कर्मों का फल उसे बुरा ही

मिलता है और अच्छे कर्मों का फल अच्छा ही मिलता है। अतः मनुष्य को अपने जीवन में अच्छे फल पाने के लिए अच्छे कर्मों की ओर अग्रसर रहना चाहिए, ताकि मनुष्य का जीवन सुखमय बने।

पुनर्धित्तं पुनर्मित्रं पुनर्भार्या पुनर्मही।
एतत्सर्वं पुनर्लभ्यं न शरीरं पुनः पुनः।।३।।

इस श्लोक में आचार्य चाणक्य ने मानव के शरीर की महिमा का वर्णन किया है। वे कहते हैं कि मनुष्य को उसका खोया हुआ धन, छूटे हुए मित्र, नयी स्त्री और धरती तो पुनः प्राप्त हो जाते हैं, परन्तु यदि मानव-शरीर एक बार नष्ट हो जाय तो वह पुनः प्राप्त नहीं होता। भाग्य के बदलने पर स्त्री, धन-सम्पत्ति, मित्र आदि तो पुनः मिलते ही हैं, पुनर्विवाह करने से पत्नी भी मिल जाती है। चाणक्य कहते हैं कि ये सब चीजें तो पृथिवी पर सहज सुलभ हैं, परन्तु मानव-शरीर नहीं। एक बार नष्ट होने पर वह पुनः प्राप्त नहीं होता। अतः मानव को चाहिए कि वह अपने शरीर की उपेक्षा न करे और उसे अधिक महत्त्व दे, क्योंकि इन सब चीजों की अपेक्षा शरीर ही सबसे महत्त्वपूर्ण है। शरीर के रहने से संसार में उपलब्ध वस्तुओं से पुनः-पुनः सम्बन्ध हो सकता है, परन्तु जब शरीर ही नहीं होगा तो सम्बन्धों की बात ही नहीं उठती। अतः इस दृष्टि से शरीर की महत्ता और उपयोगिता असन्दिग्ध है।

बहूनां चैव सत्त्वानां समवायो रिपुञ्जयः।
वर्षधाराधरो मेघस्तृणैरपि निवार्यते।।४।।

आचार्य चाणक्य ने यहां एकता में बल की बात को दोहराया है। वे कहते हैं कि संगठित होने पर क्षुद्र प्राणियों का एक छोटा समूह भी बड़े-बड़े शत्रुओं को पराजित कर देता है। इसके विपरीत बलशाली होने पर भी एक अकेला व्यक्ति कुछ नहीं कर सकता। कहावत है कि "अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता"। उदाहरण के लिए तेज बारिश करने वाले बादलों के वेग को तिनकों के समूह छप्पर के रूप में संगठित होने पर रोकने में समर्थ होते हैं। अतः स्पष्ट है कि संगठित होने पर बड़ी से बड़ी मुसीबत का सामना भी किया जा सकता है।

जले तैलं खले गुह्यं पात्रे दानं मनागपि।
प्राज्ञे शास्त्रं स्वयं याति विस्तारं वस्तुशक्तितः।।५।।

आचार्य चाणक्य कहते हैं कि जल में तेल, दुर्जन के पास गुप्त रहस्य, सत्पात्र को दिया गया दान तथा बुद्धिमान् को दिया गया उपदेशरूप में शास्त्र का ज्ञान थोड़ा होने पर भी वस्तु की शक्ति से स्वयं विस्तार को प्राप्त हो जाते हैं।

आचार्य का मत है कि जिस प्रकार जल में डाला गया तेल जल के प्रवाह पर फैल जाता है, उसी प्रकार दुष्ट व्यक्ति को बताया गया रहस्य भी कभी रहस्य नहीं रहता। इसी प्रकार सत्पात्र को दिया गया दान बहुत अधिक लाभदायक होता है और बुद्धिमान् व्यक्ति को थोड़ा समझाने पर भी वह अधिक ग्रहण कर लेता है।

धर्माऽऽख्याने श्मशाने च रोगिणां या मतिर्भवेत्।
सा सर्वदैव तिष्ठेच्चेत् को न मुच्येत बन्धनात्।।६।।

मन्दिर आदि धर्मस्थल में धर्म-विषयक कथा को सुनने पर, श्मशान में शवदाह को देखकर और रोगियों की छटपटाहट को देखकर मानव-हृदय में परिवर्तन होता है, अर्थात् वह उस समय संसार को और सांसारिक माया-मोह को निरर्थक मानने लगता है, परन्तु वहां से हटने पर उसकी निर्मल बुद्धि फिर से उसी माया-मोह के जाल में ग्रस्त हो जाती है।

उत्पन्नपश्चात्तापस्य बुद्धिर्भवति यादृशी।
तादृशी यदि पूर्वं स्यात् कस्य न स्यान्महोदयः।।७।।

आचार्य चाणक्य ने इस श्लोक में कुकर्मों से बचने के लिए सचेत किया है। वे कहते हैं कि किसी निन्दनीय कुकर्म के करने के उपरान्त पछताने वाले मनुष्य की जैसी निर्मल बुद्धि होती है, यदि वही निर्मल बुद्धि कुकर्म करने से पहले रहती तो मनुष्य का कल्याण कैसे न हो जाता? फिर उसे पश्चात्ताप करने की आवश्यकता न पड़ती। उक्ति प्रचलित है कि अब पछताए होत क्या जब चिड़ियां चुग गईं खेत। अच्छा तो यही है कि कुकर्म किया ही न जाए, जिससे पछताना पड़े। मानव को चाहिए कि अपनी बुद्धि को निर्मल रखे तथा सदा दूसरों के कल्याण की भावना रखे।

दाने तपसि शौर्ये च विज्ञाने विनये नये।
विस्मयो न हि कर्त्तव्यो बहुरत्ना वसुन्धरा।।८।।

मानव-मात्र में कभी भी अहंकार की भावना नहीं रहनी चाहिए। इसी चीज को उजागर करते हुए आचार्य चाणक्य कहते हैं कि मानव को दान का, तप का, शूरता का, विद्वत्ता का, सुशीलता का और नीतिनिपुणता का कभी अहंकार नहीं करना चाहिए, क्योंकि इस धरती पर एक से बढ़कर एक दानी, तपस्वी, शूरवीर और विद्वान् आदि हैं। उक्ति है कि सेर को सवा सेर बहुत मिल जाते हैं। अतः किसी भी कार्यक्षेत्र में अपने को अति विशिष्ट मानना मूर्खता है। यह अहंकार ही मानव मात्र के दुःख का कारण बनता है और उसे ले डूबता है।

दूरस्थोऽपि न दूरस्थो यो यस्य मनसि स्थितः।
यो यस्य हृदये नास्ति समीपस्थोऽपि दूरतः।।९।।

आचार्य चाणक्य ने इस श्लोक में सच्चे प्रेम की बात कही है। वे कहते हैं कि जिसका जिसके प्रति सच्चा प्रेम है, वह दूर रहकर भी समीप है। इसके विपरीत जिसका जिसके प्रति किसी प्रकार का मानसिक लगाव नहीं है, वह पास-पड़ोस में रहते हुए भी बहुत दूर है। मन का लगाव न होने पर किसी से किसी प्रकार का सम्बन्ध जुड़ ही नहीं पाता। ऐसा व्यक्ति आंखों के सामने रहता हुआ भी उपेक्षित है, जबकि प्रिय व्यक्ति दूर रहते हुए भी सदा आंखों के सामने घूमता रहता है। इसी बात को सूफी-सन्तों ने भी कहा है कि सच्चा प्रेम रखने से भगवान् भी पास ही रहते हैं।

यस्य चाप्रियमिच्छेत तस्य ब्रूयात् सदा प्रियम्।
व्याधो मृगवधं कर्तुं गीतं गायति सुस्वरम्।।१०।।

जब किसी को किसी अन्य व्यक्ति का अमंगल करना हो तो उस व्यक्ति को सर्वदा मधुर और प्रिय व्यवहार करना चाहिए। उदाहरण के लिए मृग को मारने की इच्छा रखने वाला शिकारी उसे मोहित करने के लिए मधुर स्वर में बीन बजाता है। अतः स्पष्ट है कि यदि अधिकारी के प्रति मधुर, शिष्ट और विनयपूर्वक व्यवहार नहीं किया जायेगा तो उसे भरोसे में नहीं लिया जा सकेगा। आचार्य चाणक्य ने यहां स्पष्ट किया है कि मानव की वाणी में रस होना चाहिए, तभी वह अपनी इच्छा को पूर्ण कर सकता है और लाभ उठा सकता है।

अत्यासन्ना विनाशाय दूरस्था न फलप्रदाः।
सेव्यन्ता मध्यभागेन राजा वह्निगुर्रुः स्त्रियः।।११।।

आचार्य चाणक्य कहते हैं कि राजा, अग्नि, गुरु और स्त्रियों की अत्यधिक समीपता अर्थात् इनके बहुत अधिक नजदीक रहना विनाश का कारण बन सकता है और इनसे दूर रहने में भी कोई लाभ नहीं रहता। अतः विनाश से बचने और लाभ उठाने के लिए मानव को बीच का रास्ता अपनाना चाहिए। अर्थात् न तो इनके अधिक नजदीक ही जाएं और न बहुत दूर ही रहें—यही मध्यममार्ग है और यही वाञ्छनीय भी है।

आचार्य चाणक्य कहते हैं कि राजा और गुरु के अधिक समीप रहने पर व्यक्ति के दोष उभर कर सामने आ जाते हैं और बहुत दूर रहने पर व्यक्ति उपेक्षित हो जाता है। अग्नि की अधिक समीपता से जलने का और अधिक दूर रहने पर उष्मा की न्यूनता की आशंका का खतरा रहता है। स्त्रियां भी कभी यह

नहीं चाहतीं कि कोई व्यक्ति उनके इतना अधिक समीप रहे कि उनकी कोई भी चेष्टा या गतिविधि गुप्त ही न रह पाये। इसके साथ ही स्त्रियों से दूर रहने का अर्थ उन्हें उच्छृंखल होने की स्वतन्त्रता देना है।

आचार्य चाणक्य ने यहां शास्त्रों की बात को उद्धृत किया है। वे कहते हैं कि शास्त्रों में यह कथन सर्वथा उचित एवं उपयुक्त है कि इन चारों—राजा, गुरु, अग्नि एवं स्त्री के साथ थोड़ी दूरी अवश्य बनाए रखनी चाहिए।

अग्निरापः स्त्रियो मूर्खः सर्पा राजकुलानि च।
नित्यं यत्नेन सेव्यानि सद्यः प्राणहराणि षट्।।१२।।

आचार्य चाणक्य ने इस श्लोक में छः चीजों से सावधानी बरतने की सलाह दी है। वे कहते हैं कि आग, जल, स्त्री, मूर्ख पुरुष, सर्प और राजकुल से व्यवहार में बड़ी ही सावधानी बरतनी चाहिए, क्योंकि जहां ये अनुकूल होने पर अभीष्ट फल देती हैं, वहीं थोड़ी-सी असावधानी होने पर तत्क्षण प्राण भी हर लेती हैं।

अतः आचार्य चाणक्य कहते हैं कि अग्नि के प्रति, जल के प्रति, स्त्री और मूर्ख व्यक्ति के प्रति, सर्प और राजवंश के प्रति उपेक्षा दिखाना अपनी मौत को बुलावा देना है। अतः स्पष्ट है कि व्यक्ति को इन छः चीजों से बहुत ही सावधान रहना चाहिए।

स जीवति गुणा यस्य यस्य धर्मः स जीवति।
गुणधर्मविहीनस्य जीवितं निष्प्रयोजनम्।।१३।।

इस श्लोक में आचार्य चाणक्य ने व्यक्ति में गुणों के विद्यमान होने पर बल दिया है। उनके अनुसार जिसके पास गुण हैं अर्थात् जिसने दया, परोपकार और लोक-सेवा में अपना जीवन बिताया है तथा जिसने वर्णाश्रम के कर्त्तव्य-कर्मों का पालन किया है, उसी का जीवन सफल है। इसके विपरीत गुणहीन और धर्मरहित व्यक्ति का जीवन तो सर्वथा निरर्थक और निष्फल है।

जो व्यक्ति न तो दूसरों का भला करता है और न ही अपने कर्त्तव्य का पालन करता है, उसके जीवन की भला क्या उपयोगिता है ! उसका जीवन तो निरर्थक ही है।

यदीच्छसी वशीकर्तुं जगदेकेन कर्मणा।
परापवादशस्येभ्यो गां चरन्तीं निवारय।।१४।।

इस श्लोक में आचार्य चाणक्य परनिंदा को बुरा बताते हुए कहते हैं कि यदि व्यक्ति संसार के सभी प्राणियों के वशीकरण का मन्त्र सचमुच में ही जानना चाहता है तो एक बड़ा ही सरल और सर्वथा अव्यर्थ जाने वाला उपाय यह है कि

व्यक्ति को अपनी वाणी को परनिन्दा से बचाना चाहिए। दूसरों को अपने वश में करने के इच्छुक व्यक्ति को कभी किसी की निन्दा नहीं करनी चाहिए।

आचार्य कहते हैं कि जब व्यक्ति किसी की निन्दा नहीं करेगा तो भला उससे कौन रुष्ट होगा और क्यों होगा।

प्रस्तावसदृशं वाक्यं प्रभावसदृशं प्रियम्।
आत्मशक्तिसमं कोपं यो जानाति स पंडितः।।१५।।

आचार्य चाणक्य इस श्लोक में कहते हैं कि वही व्यक्ति बुद्धिमान् है जो अवसर के अनुकूल बात करे, अपनी सामर्थ्य के अनुरूप साहस करे और अपनी शक्ति के अनुरूप क्रोध करे। इसके विपरीत अवसर को बिना पहचाने ऊल-जलूल बातें करने वाला, अपनी शक्ति से बढ़कर दुस्साहस करने वाला तथा क्रोध करने वाला निश्चित रूप से ही संकट में पड़ जाता है और दुःखी होता है। इसलिए आचार्य महोदय कहते हैं कि व्यक्ति को अपने सामर्थ्य के अनुरूप ही कार्य करना चाहिए।

एक एव पदार्थस्तु त्रिधा भवति वीक्षितः।
कुणपः कामिनी मांसं योगिभिः कामिभिः श्वभिः।।१६।।

आचार्य चाणक्य कहते हैं कि एक ही पदार्थ को देखने वाले प्राणी उसे विभिन्न दृष्टिकोणों से देखते हैं। दृष्टिकोण के कारण उस पदार्थ के तीन भिन्न-भिन्न रूप दिखाई देते हैं। स्त्री का शरीर योगियों के लिए शवरूप है तो कामियों के लिए सौन्दर्य का भण्डार और कुत्तों के लिए मांसपिण्ड। अभिप्राय यह है कि नारी-सौन्दर्य दृष्टि का ही भ्रम है। अर्थात् प्रत्येक प्राणी प्रत्येक वस्तु को विभिन्न भाव और नज़रिये से देखता-परखता है।

सुसिद्धमौषधं धर्मं गृहच्छिद्रं च मैथुनम्।
कुभुक्तं कुश्रुतं चैव मतिमान्न प्रकाशयेत्।।१७।।

अनेक बातें गुप्त रखने की होती हैं। बुद्धिमान् व्यक्ति को निम्नलिखित छः बातें कभी किसी से नहीं कहनी चाहिएं। इन्हें अपने तक ही सीमित रखना चाहिए और दूसरों से यथासम्भव छिपाने की चेष्टा करनी चाहिए–

(1) सिद्ध (कभी व्यर्थ न जाने वाली) औषधि का ज्ञान, (2) धर्माचरण, (3) अपने घर के दोष, (4) मैथुन, (5) कुभोजन तथा (6) निन्दित वचन। व्यक्ति यदि कोई धर्म का काम करता है तो उसे बखान करने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। इसी प्रकार कुभोजन, घर के दोष, स्त्रीगमन और बुरी बातों की चर्चा नहीं करनी चाहिए।

तावन्मौनेन नीयन्ते कोकिलैश्चैव वासराः।
यावत्सर्वजनानन्द-दायिनी वाक् न प्रवर्तते।।१८।।

आचार्य चाणक्य का मत है कि व्यक्ति को उचित समय पर ही बोलना चाहिए। वसन्त में फैलने वाली आम्रमंजरी के स्वाद से प्राणिमात्र को आनन्दित करने वाली कोयल की वाणी जब तक सुमधुर और कर्णप्रिय नहीं हो जाती, तब तक कोयल मौन रह कर ही अपने दिन बिताती है।

मनुष्य बोले तो मधुर वाणी बोले, नहीं तो मौन ही रहे।

धर्मं धनं च धान्यं च गुरौर्वचनमौषधम्।
सुगृहीतं च कर्त्तव्यमन्यथा तु न जीवति।।१९।।

वैसे तो मनुष्य को प्रत्येक कार्य में ही सावधानी बरतनी चाहिए परन्तु विशेष रूप से इन पांच तत्त्वों—धर्म (यज्ञ-क्रिया, तन्त्र-अनुष्ठान आदि), धन (उपयोग), धान्य (अन्न, चावल आदि), गुरु का आदेश और औषध—का प्रयोग सोच समझ कर करना चाहिए। इनके गलत प्रयोग से प्राण-हानि तक हो सकती है, अतः इस विषय में विशेष सावधानी अपेक्षित होती है।

यज्ञ-क्रिया, धन-धान्य का उपयोग, गुरु की आज्ञा और औषधि का उपयोग अच्छी प्रकार सोच कर ही करना चाहिए। बिना समझे जल्दबाजी में नहीं।

त्यज दुर्जनसंसर्गं भज साधुसमागमम्।
कुरु पुण्यमहोरात्रं स्मर नित्यमनित्यतः।।२०।।

दुर्जन व्यक्ति के संग का परिणाम बुरा ही होता है। इससे आदमी पाप-कर्म की ओर प्रवृत्त होता है। आत्मकल्याण के इच्छुक व्यक्ति को दुर्जनों की संगति छोड़ देनी चाहिए और साधु पुरुषों का संग करना चाहिए। उसे इस संसार में प्रतिदिन कोई न कोई पुण्य कार्य भी करते रहना चाहिए। वस्तुतः उसे अनित्य संसार में वासना का परित्याग करके नित्य शुद्ध-बुद्ध परब्रह्म परमेश्वर का ही स्मरण करना चाहिए। इसी में मनुष्य का सच्चा सुख और कल्याण निहित है।

पन्द्रहवां अध्याय

यस्य चित्तं द्रवीभूतं कृपया सर्वजन्तुषु।
तस्य ज्ञानेन मोक्षेण किं जटाभस्मलेपनैः।।१।।

यदि मनुष्य दयाहीन हैं तो उसके मनुष्य होने का कोई अर्थ नहीं है। दया ऐसा गुण है जिससे दया करने वाले और जिस पर दया की जाती है दोनों को लाभ होता है। चाणक्य कहते हैं कि जिसका चित्त प्राणियों को संकट में देखकर दया से द्रवित हो जाता है, उसे जटाएं बढ़ाने, भस्म लगाने, ज्ञान प्राप्त करने तथा मोक्ष के लिए प्रयत्नशील होने की कोई आवश्यकता नहीं।

दया सभी धर्मों से बढ़कर है और दयालु व्यक्ति ही सच्चे अर्थों में ज्ञानवान्, भक्त और योगी है।

जीव-मात्र पर दया करने वाले के लिए किसी बाह्य-प्रदर्शन का कोई महत्त्व नहीं है। वह केवल इसी एक गुण के द्वारा महानता को प्राप्त होता है।

एकमेवाक्षरं यस्तु गुरुः शिष्यं प्रबोधयेत्।
पृथिव्यां नास्ति तद् द्रव्यं यद्दत्वा चाऽनृणी भवेत्।।२।।

मानव क्या है—वह आत्मा है या शरीर? यह ज्ञान आवश्यक है। इस ज्ञान के बिना मानव-शरीर धारण करना उसी प्रकार है जिस प्रकार मन्त्रों का अर्थ जाने बिना उन्हें रट लेना। परन्तु अर्थ का ज्ञान गुरु देता है। इस श्लोक का अर्थ यह है कि जो गुरु अपने शिष्य को एकाक्षर—"तत्त्वमसि" तुम ब्रह्म हो, आत्मा हो, शरीर नहीं—के रूप में सच्चे तत्त्वज्ञान का उपदेश देता है, वह अपने शिष्य को मिथ्या मायामोह से हटा कर ब्रह्म का साक्षात्कार कराता है। इस संसार में ऐसा कोई मूल्यवान् पदार्थ नहीं जिसे गुरु को अर्पण करके शिष्य गुरु के इस ऋण से उऋण हो सके।

आत्मा के तत्त्वज्ञान का उपदेश सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं मूल्यवान् है।

इसके सामने संसार के सभी पदार्थ तुच्छ हैं, अतः तत्त्वोपदेष्टा गुरु के प्रति शिष्य को सदैव आभारी होना चाहिए।

खलानां कण्टकानां च द्विविधैव प्रतिक्रिया।
उपानान्मुखभंगो वा दूरतो वा विसर्जनम्।।३।।

दुष्ट व्यक्ति से उसी तरह बचना चाहिए जिस तरह आदमी कांटों से बचता है। यदि वह कांटों से नहीं बच पाता तो वह उनमें उलझ जाता है।

दुष्टों और कांटों से छुटकारा पाने के दो ही मार्ग हैं—प्रथम, जूतों से उनका मुंह तोड़ देना। द्वितीय, दूर से ही उनका परित्याग कर देना।

व्यक्ति के पास सामर्थ्य हो तो दुष्टों को दण्डित करना चाहिए और यदि सामर्थ्य न हो तो उनसे किनारा कर लेना चाहिए। उनका सामीप्य कभी वाञ्छनीय नहीं होता।

कुचैलिनं दन्तमलोपधारिणं, बह्वाशिनं निष्ठुरभाषिणं च।
सूर्योदये चास्तमिते शयानं, विमुञ्चति श्रीर्यदि चक्रपाणिः।।४।।

जल्दी सोना और जल्दी उठना, स्वस्थ और धनवान् होने के लक्षण बताये गये हैं, परन्तु आचार्य चाणक्य ने उनमें कुछ वृद्धि की है जो उचित होने के साथ अधिक सार्थक भी है।

मैले-कुचैले वस्त्र पहनने वाला, गन्दे-मैले दांतों वाला, अधिक खाने वाला, कानों पर हथौड़ा पड़ने जैसी कर्कश वाणी बोलने वाला, सूर्योदय और सूर्यास्त के समय सोता रहने वाला यदि साक्षात् विष्णु भी हो तो लक्ष्मी उसे अवश्य छोड़ देती है, दूसरों के विषय में तो फिर कहना ही क्या!

अभिप्राय यह है कि इस प्रकार के व्यक्ति आलसी होने के कारण दरिद्र होते हैं। दरिद्रता के निवारण के लिए इन दोषों—मलिन वस्त्र धारण करना, दांत गन्दे रखना, कठोर वाणी बोलना, सूर्योदय और सूर्यास्त के समय सोते रहना—का परित्याग अपेक्षित है।

स्वच्छ वस्त्र धारण करने वाला, दांतों को चमकीला बनाए रखने वाला, मिष्ट-मधुर वाणी बोलने वाला तथा सूर्यास्त के समय निद्रामग्न न होकर कार्यरत रहने वाला व्यक्ति समृद्धिशाली बनता है।

जो व्यक्ति अपने शरीर की शुद्धि व स्वच्छता की ओर ही ध्यान नहीं देता, वह उद्यम क्या करेगा!

त्यजन्ति मित्राणि धनैर्विहीनं, दाराश्च भृत्याश्च सुहृज्जनाश्च।

तंचार्थवन्तं पुनराश्रयन्ते, ह्यर्थो हि लोके पुरुषस्य बन्धुः।।५।।

संसार की यह रीति है कि यहां सारा कारोबार पैसे यानि धन से चलता है।

मनुष्य जब कभी धनहीन हो जाता है तो उसके मित्र, सेवक और सम्बन्धी यहां तक कि स्त्री आदि भी उसे छोड़ देते हैं। जब कभी संयोग से वही व्यक्ति फिर धनवान् हो जाता है तो उसे छोड़ जाने वाले वही सम्बन्धी, सेवक आदि फिर उसके पास लौट आते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि धन ही मनुष्य का सच्चा बन्धु है, जिसके होने पर संसार के सभी प्राणी अनुराग करते हैं और न होने पर आंख फेर लेते हैं।

अन्यायोपार्जितं वित्तं दशवर्षाणि तिष्ठति।
प्राप्ते चैकादशे वर्षे समूलं तद् विनश्यति।।६।।

लक्ष्मी वैसे ही चंचल होती है परन्तु चोरी, जुआ, अन्याय और धोखा देकर कमाया हुआ धन भी स्थिर नहीं रहता, वह बहुत शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। आचार्य चाणक्य ने तो उसके लिए सीमा निर्धारण कर दी है। वे कहते हैं कि अन्याय, धूर्तता अथवा बेईमानी से जोड़ा-कमाया धन अधिक से अधिक दस वर्षों तक रहता है। ग्यारहवें वर्ष में वह बढ़ा हुआ धन मूल के साथ ही नष्ट हो जाता है।

अतः व्यक्ति को कभी अन्याय से धन के अर्जन में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए।

अयुक्तं स्वामिनो युक्तं युक्तं नीचस्य दूषणम्।
अमृतं राहवे मृत्युर्विषं शंकर-भूषणम्।।७।।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने लिखा है कि समर्थ व्यक्ति को कोई दोष देना कठिन है। जो बात सामर्थ्यवान् के लिए सिद्धिदायक हो सकती है, वही सामान्य व्यक्ति के लिए हानिकारक हो सकती है।

समर्थ पुरुष के लिए साधारण वस्तु भी भूषण-रूप हो जाती है, जबकि नीच पुरुष के लिए सुन्दर वस्तु भी अनुपयुक्त तथा दोषमय बन जाती है। उदाहरणार्थ, देवों को अजर-अमर बनाने वाला अमृत राहु के लिए प्राणघातक सिद्ध हुआ, जबकि प्राणघातक विष भी भगवान् शंकर के लिए आभूषण बन गया। स्पष्ट है कि किसी भी वस्तु का महत्त्व वस्तु के प्रयोक्ता व्यक्ति के सन्दर्भ में ही होता है।

तद् भोजनं यद् द्विजभुक्तशेषं, तत्सौहृदं यत् क्रियते परस्मिन्।
स प्राज्ञता या न करोति पापं, दम्भं विना यः क्रियते स धर्मः।।८।।

चाणक्य-नीति के इस श्लोक का अर्थ यह है कि व्यक्ति को चाहिए कि वह विद्वान् को भोजनादि से सन्तुष्ट रखे, लोगों के प्रति सहानुभूति रखे तथा अपनी बुद्धि को निर्मल रखे। उसमें पाप-भावना न आने दे और व्यवहार को शुद्ध रखे।

ब्राह्मणों को खिलाने के उपरान्त अवशिष्ट भोजन ही सर्वोत्तम भोजन है; दूसरों का हित करने वाली वृत्ति (सहानुभूति) ही सच्ची सहृदयता है; पाप से निवृत्त करने वाली बुद्धि ही निर्मल प्रज्ञा है; छल-कपट से रहित शुद्ध आचरण ही सच्चा धर्म है।

मणिर्लुण्ठति पादाग्रे काचः शिरसि धार्यते।
क्रयविक्रयवेलायां काचः काचो मणिर्मणिः।।९।।

भले ही मणि को ठोकर मारी जाय और कांच को सिर पर धारण किया जाय, परन्तु खरीद-फरोख्त के समय मणि का मूल्य और होता है तथा शीशे का मूल्य और।

किसी योग्य व्यक्ति को निम्न स्थान पर और अयोग्य व्यक्ति को उच्च पद पर रख देने से उनके मूल्य में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो जाता, अपितु उससे गलत स्थान पर रखने वाले व्यक्ति की ही निन्दा होती है।

रत्न रत्न ही रहेगा और कांच कांच। स्थान का परिवर्तन अर्थात् कांच-रत्न के आभूषणों की तरह सजा कर रख दिया जाय तो उसका मूल्य बहुत अधिक नहीं हो जाता। जौहरी उसकी वास्तविकता परख ही लेता है।

अनन्तशास्त्रं बहुलाश्च विद्याः अल्पश्च कालो बहुविघ्नता च।
यत्सारभूतं तदुपासनीयं, हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात्।।१०।।

यह मानव-जीवन सीमित है और कार्यों की संख्या असीमित। ज्ञान अनन्त है और आयु अत्यल्प। इसलिए व्यक्ति सभी कुछ सीखने-जानने के पचड़े में पड़ेगा तो उलझ जायेगा। चाणक्य ने कहा है कि शास्त्रों की संख्या का कोई अन्त नहीं है। ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद तथा धनुर्वेद आदि विद्याओं का भी कोई अन्त नहीं है। इसके विपरीत जीवन बहुत थोड़ा है और इस अल्पकाल के जीवन में रोग-शोक आदि अनेक विघ्न उपस्थित रहते हैं। इस स्थिति में मनुष्य को शास्त्रों का सार ही ग्रहण करना चाहिए। जिस प्रकार हंस दूध-पानी में से दूध को पी लेता है और जल का परित्याग कर देता है, उसी प्रकार बुद्धिमान् व्यक्ति को अनेक शास्त्रों और विद्याओं के तत्त्व को ही ग्रहण करना चाहिए। सभी शास्त्रों और विद्याओं का जानना तो किसी के लिए भी सम्भव नहीं है।

दूरागतं पथि श्रान्तं वृथा गृहमागतम्।
अनर्चयित्वा यो भुंक्ते स वै चाण्डाल उच्यते।।११।।

मानव का धर्म है लोगों की सहायता करना, उनका सुख-दुःख बांट लेना। आचार्य ने कहा है कि दूर से आए हुए परिचित अथवा अपरिचित व्यक्ति को, रास्ता चलने से थके-मांदे तथा किसी स्वार्थ के कारण आश्रय की इच्छा से घर पर आए व्यक्ति को, बिना खिलाए-पिलाए जो स्वयं खा-पी लेता है, वह चाण्डाल कहलाता है।

सच्चे अर्थों में ऐसा व्यक्ति ही अतिथि—अनिश्चित तिथि पर आने वाला ही कहलाता है और अतिथि की उपेक्षा पाप-कर्म है—यह सभी शास्त्रों का विधान है।

पठन्ति चतुरो वेदान् धर्मशास्त्राण्यनेकशः।
आत्मानं नैव जानन्ति दर्वी पाकरसं यथा।।१२।।

आजकल के पण्डित चारों वेदों और अनेक धर्मशास्त्रों को पढ़ तो लेते हैं, परन्तु जिस प्रकार कलछी पाक में घुसी रहने पर भी उस पाक के रस को नहीं जानती, उसी प्रकार वेदों और शास्त्रों के पण्डित उनके मन्तव्य अर्थात् आत्मतत्त्व को नहीं जानते। इससे उनका वेदों और शास्त्रों का अध्ययन निरर्थक हो जाता है। वेद-शास्त्रों के अध्ययन की सार्थकता उनके सारतत्त्व—आत्मज्ञान—को ग्रहण करना है।

पढ़ने की सार्थकता इसी में है कि जो कुछ पढ़ा जाय उसका सार ग्रहण करके उसे जीवन में ढाला भी जाय, अन्यथा वेद-शास्त्रों आदि का अध्ययन व्यर्थ है।

धन्या द्विजमयी नौका विपरीता भवार्णवे।
तरन्त्यधोगताः सर्वे उपरिष्थाः पतन्त्यधः।।१३।।

इस संसाररूपी सागर में ब्राह्मणरूपी नौका की बड़ी ही विचित्र और विपरीत स्थिति है। यहां इस संसार-सागर के नीचे गए हुए तो तर जाते हैं, परन्तु जो ऊपर बैठे रहते हैं, वे नीचे लुढ़क जाते हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि संसार में जो ब्राह्मणों के प्रति विनम्र रहते हैं और उनकी सेवा-सुश्रूषा करते हैं, उनका तो उद्धार हो जाता है, किन्तु जो ब्राह्मणों के सामने अकड़ दिखाते हैं, अपने अहंकार का प्रदर्शन करते हैं, उनका कभी उद्धार नहीं हो पाता।

व्यक्ति को सदा विनम्र रहना चाहिए। विनम्रता ऐसा गुण है जो व्यक्ति को

ऊंचा उठाता है। अभिमानी अपना सिर ऊंचा तो उठाता है, परन्तु प्रकृति उसे झुका देती है।

अमयमृतनिधानं नायकोऽप्यपौषधीनां,
कमलासहजातः कान्तियुक्तोऽपि चन्द्रः।
भवति विगतरश्मिर्मण्डलं प्राप्य भानोः,
परसदननिविष्टः को लघुत्वं न याति।।१४।।

चन्द्रमा—जो अमृत का भण्डार है, औषधियों में रस डालने वाला होने से उनका अधिपति है; समुद्र से लक्ष्मी के साथ उत्पन्न होने के नाते उसका भाई है और अत्यन्त चमकीला है, परन्तु सूर्य के मण्डल में पहुंचते ही एकदम निस्तेज हो जाता है। चन्द्र की यह दशा इस तथ्य को सूचित करती है कि दूसरे के घर में जाने से व्यक्ति का बड़प्पन बना नहीं रहता। कोई व्यक्ति किसी प्रयोजन से ही तो दूसरे के घर जाता है। जब कोई किसी के यहां चलकर जाता है तो दूसरे के सामने छोटा हो जाता है, अर्थात् अपना प्रयोजन लेकर किसी के घर जानें में आदमी को संकोच से काम लेना चाहिए।

अलिरयं नलिनीदलमध्यगः कमलिनीमकरन्दमदालसः।
विधिवशात् परदेशमुपागतः कुटजपुष्परसं बहु मन्यते।।१५।।

कमलिनियों के मध्य रहने वाला भ्रमर पुष्प-रस को पीता रहता था और मस्ती मारता था, परन्तु जब उसे संयोगवश कमलिनियों के वन को छोड़कर दूसरे स्थान पर जाना पड़ा तो बेचारे को वहां कटसरैया का रस पीने को मिला। तब वह उसे भी गौरव देने लगा, क्योंकि न मिलने से तो कुछ मिलना ही अच्छा है। यह उदाहरण इस तथ्य को सूचित करता है कि परदेश बड़ा ही दुःखद होता है। वहां व्यक्ति को सहज रूप में प्राप्त वस्तुओं से सन्तोष करना पड़ता है।

वैसे यह भी कहा गया है कि आदमी परदेश में जाकर धन कमाता है परन्तु वहां उसे अनेक कष्ट भी उठाने पड़ते हैं। इसलिए व्यक्ति को चाहिए कि वह अपनी आय को समय के अनुरूप ढाल ले।

पीतः क्रुद्धेन तातश्चरणतलहतो वल्लभो येन रोषाद्
आबाल्याद् विप्रवर्यैः स्ववदनविवरे धार्यते वैरिणी मे।
गेहं मे छेदयन्ति प्रतिदिवसमुमाकान्तपूजानिमित्तं
तस्मात् खिन्ना सदाहं द्विजकुलनिलयं नाथ ! युक्तं त्यजामि।।१६।।

विष्णु लक्ष्मी से पूछते हैं कि वह ब्राह्मणों से असन्तुष्ट क्यों रहती हैं। लक्ष्मी उत्तर देती हैं कि ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न अगस्त्य नामक ऋषि ने मेरे पिता

समुद्र को ही पीकर सुखा दिया था। (लक्ष्मी समुद्र-मंथन से निकले चौदह रत्नों से थी, इसीलिए समुद्र को लक्ष्मी का पिता माना जाता है।) लक्ष्मी आगे कहती हैं कि इसी ब्राह्मण-कुल के एक अन्य व्यक्ति महर्षि भृगु ने आपकी छाती में लात मारी थी। (लक्ष्मी विष्णु भगवान् को अपना प्राणप्रिय मानती हैं।) इसके साथ ही ये लोग बचपन से ही मेरी सौत सरस्वती की उपासना करते रहते हैं। (ब्राह्मण बचपन से ही वेदादि शास्त्रों का अध्ययन आरम्भ कर देते हैं।) इसके अतिरिक्त ये लोग शंकर की उपासना के लिए प्रतिदिन मेरा घर (कमलपुष्प) ही उजाड़ते रहते हैं। (कमलों में लक्ष्मी का निवास माना जाता है।) ये ही कारण हैं जिनसे मैं ब्राह्मणों को त्याग चुकी हूं। बताइये, क्या मेरा निर्णय अनुचित है?

बन्धनानि खुल सन्ति बहूनि प्रेमरज्जुदृढ बन्धमन्यत्।
दारुभेदनिपुणोऽपि षडंघ्रिर्निष्क्रियो भवति पंकजकोशे।।१७।।

संसार के सभी व्यक्ति व पदार्थ मनुष्य के लिए बन्धन का कारण होते हैं परन्तु प्रेम का बन्धन सबसे मजबूत बन्धन है।

बन्धनों में प्रेमरूपी रस्सी का बन्धन कुछ अलग ही प्रकार का है। इसका महत्त्व अपने ही ढंग का है। देखिए लकड़ी में छेद करने में कुशल भौंरा कमल की पंखुड़ियों को तोड़ने में असमर्थ हो जाता है, आखिर क्यों? केवल प्रेम के बन्धन के कारण ही तो वह कमल को तोड़ नहीं पाता! इससे स्पष्ट है कि प्रेम का बन्धन उस कच्चे धागे का बन्धन है, जिसकी डोर से प्रेमी अनायास ही तथा स्वतः खिंचे-चले आते हैं।

छिन्नोऽपि चन्दनतरुर्न जहाति गन्धम्,
वृद्धोऽपि वारणपतिर्न जहाति लीलाम्।
यन्त्रार्पितो मधुरतां न जहाति चेक्षुः,
क्षीणोऽपि न त्यजति शीलगुणान् कुलीनः।।१८।।

इस श्लोक का अर्थ है कि व्यक्ति या वस्तु का जो गुण या कर्म है वह उससे छूटना कठिन है। आचार्य का कहना है कि कुलीन पुरुष धन-धान्य से क्षीण हो जाने पर भी अपने चरित्र के गुणों—सुशीलता, उदारता तथा त्यागशीलता आदि—का परित्याग कभी नहीं करता। उदाहरणार्थ, चन्दन का वृक्ष काटे जाने पर भी सुगन्ध नहीं छोड़ देता, हाथी बूढ़ा हो जाने पर भी विलासलीला का परित्याग नहीं कर देता, ईख कोल्हू में पेरे जाने पर भी अपनी मिठास को नहीं छोड़ देता। मौलिक गुण अन्त तक साथ नहीं छोड़ते।

उर्व्या कोऽपि महीधरो लघुतरो दोर्भ्यां धृतो लीलया,

तेन त्वं दिवि भूतले च सततं गोवर्धनो गीयसे।
त्वां त्रैलोक्यधरं वहामि कुचयोरग्रेण तद्गण्यते,
किं या केशव भाषणेन बहुना पुण्यैर्यशो लभ्यते ।।१९।।

उलाहना देती हुई एक गोपी श्रीकृष्ण को कहती हैं, हे श्रीकृष्ण ! तुमने एक बार गोवर्द्धन नामक किसी एक छोटे-से पर्वत को क्या उठा लिया कि इस लोक में ही नहीं अपितु स्वर्गलोक में भी गोवर्द्धनधारी के रूप में प्रसिद्ध हो गए, परन्तु आश्चर्य ही है कि मैं तीन लोकों को धारण करने वाले तुम्हें अपने हृदय में धारण करती हूं अर्थात् दिन-रात तुम्हारा चिन्तन करती हूं, पर मुझे कोई त्रिलोकधारी जैसी पदवी नहीं देता। वास्तव में यश-सम्मान तो पुण्य और भाग्य से ही मिलता है।

सोलहवां अध्याय

न ध्यातं पदमीश्वरस्य विधिवत्संसारविच्छित्तये,
स्वर्गद्वारकपाटपाटनपटुर्धर्मोऽपि नोपार्जितः।
नारीपीनपयोधरोरुयुगलं स्वप्नेऽपि नालिंगतं,
मातुः केवलमेव यौवनवनच्छेदे कुठारा वयम्।।१।।

आचार्य चाणक्य कहते हैं कि जिन लोगों ने संसार-सागर में उद्धार के लिए विधिपूर्वक श्री नारायणदेव के चरणों का कभी आराधन नहीं किया तथा कभी भी स्वर्ग के द्वारों को खोलने के लिए समर्थ धर्म का उपार्जन अथवा संग्रह भी नहीं किया, और यथार्थ जीवन में तो क्या, स्वप्न में भी किसी रमणी के स्थूल कुचों और जांघों में आलिंगन के भोग का सुख भी नहीं पाया, इस प्रकार उस व्यक्ति ने न तो इस लोक के सुख भोगे और न ही परलोक को साधा। इस प्रकार के व्यक्तियों का जन्म लेना व्यर्थ है। इस प्रकार के लोगों का जन्म तो मां के जवानी-रूपी जंगल को काटने के लिए कुल्हाड़ी के समान ही हुआ, अर्थात् ऐसे पुत्रों को जन्म देकर मां ने अपने यौवन को व्यर्थ ही गंवाया, क्योंकि ऐसे पुत्रों को जनना तो सर्वथा निरर्थक ही हुआ। इससे मां की कान्ति व्यर्थ ही गई।

आचार्य चाणक्य कहते हैं कि इस संसार में उत्पन्न व्यक्ति को इस लोक के सुख उठाते हुए परलोक-सुधार के लिए धर्माचरण में प्रवृत्त होना चाहिए। इसी में मानव-जीवन की सफलता है। जो मनुष्य न तो लौकिक सुखों का उपभोग करता है और न परलोक की चिन्ता करता है, उसका जन्म और जीवन सर्वथा व्यर्थ ही है। अतः मनुष्य को इस लोक के सुखों का उपभोग करते हुए परलोक को साधना चाहिए।

जल्पन्ति सार्द्धमन्येन पश्यन्त्यन्यं सविभ्रमाः।
हृदये चिन्तयन्त्यन्यं न स्त्रीणामेकतो रतिः।।२।।

आचार्य चाणक्य ने इस श्लोक में स्त्रियों के प्रेम करने की विधा की चर्चा की

है। वे कहते हैं कि स्त्रियां कभी किसी एक व्यक्ति से प्रेम नहीं करतीं। वे बातें किसी और से करती हैं, विलासपूर्वक देखती किसी और को हैं तथा हृदय में चिन्तन किसी और के ही विषय में करती हैं। इस प्रकार उनका प्रेम एकान्तिक न होकर बहुजनीय होता है। स्त्रियों के बतियाने और प्रेमपूर्वक देखने को अपने प्रति उनका अनन्य अनुराग नहीं समझना चाहिए, क्योंकि उनकी प्रत्येक चेष्टा में चतुराई छिपी होती है।

यो मोहान्मन्यते मूढो रक्तेयं मयि कामिनी।
स तस्या वशगो भूत्वा नृत्येत् क्रीड शकुन्तवत्।।३।।

जो अविवेकी व्यक्ति अपने अज्ञान तथा अन्ध-मोह के कारण किसी सुन्दरी को अपने में ही अनुरक्त समझने का भ्रम पाल लेता है, वह अपनी इस मूर्खता के कारण उसके अधीन होकर मनोरंजन के लिए पाले हुए पक्षी के समान उसके संकेतों पर नाचने के लिए विवश हो जाता है।

आचार्य चाणक्य कहते हैं कि स्त्रियां विलासनीय होती हैं। वे अपने विलास के लिए पुरुष के मन में उस पर अनुरक्त होने का भ्रम उत्पन्न करती हैं। पुरुष उनके छल-कपट को सत्य मान कर उनके अधीन हो जाते हैं और उनके संकेतों पर नाचने को विवश हो जाते हैं।

कोऽर्थान् प्राप्य न गर्वितो विषयिणः कन्यापदोऽस्तं गताः,
स्त्रीभिः कस्य न खण्डितं भुवि मनः को नाम राज्ञां प्रियः।
कः कालस्य न गोचरत्वमगमत् कोऽर्थी गतो गौरवम्।
को वा दुर्जन वागुरासु पतितः क्षेमेण यातः पथि।।४।।

अपने जीवन को सुखमय और सफल बनाने के लिए मानव के पास धन का होना आवश्यक है, परन्तु इस संसार में ऐसा कोई प्राणी नहीं हुआ जो प्रचुर धन-सम्पत्ति पाकर भी अहंकार से ग्रस्त न हुआ हो; ऐसा कोई विषयी नहीं हुआ जिसे पग-पग पर अनेक संकट न झेलने पड़े हों; ऐसा कोई प्राणी नहीं हुआ जो रमणियों के रूप-सौन्दर्य के मोहन को संवरण कर सका अर्थात् रूपवतियों ने जिसे अपने वश में न कर लिया हो। इस संसार में ऐसा भी कोई प्राणी नहीं हुआ जो सदैव राजपरिवार में सम्मानित हुआ हो; ऐसा कोई जीव नहीं जो उत्पन्न तो हुआ हो, परन्तु मृत्यु को प्राप्त न हुआ हो; ऐसा कोई प्राणी नहीं जो याचक बन कर अपने गौरव से पतित न हुआ हो। इस प्रकार इस संसार में ऐसा कोई प्राणी नहीं जो दुर्जनों के फन्दे में पड़ने से दुःखी न हुआ हो अथवा उनके दुर्गुण न अपनाये हों।

अतः स्पष्ट है कि धन-दौलत पाकर व्यक्ति में अहंकार आ ही जाता है। विषयों का सेवन संकटों का कारण होता है। स्त्रियां सभी प्राणियों को अपने सौन्दर्य के रूप-जाल में फंसा लेती हैं। राजपरिवार का रोष-तोष बदलता रहता है। सभी उत्पन्न प्राणी एक दिन मृत्यु को प्राप्त होते हैं। याचक बनते ही व्यक्ति की गरिमा नष्ट हो जाती है। यह श्लोक इस बात की पुष्टि करता है कि दुर्जनों का संग कभी सुखदायी एवं कल्याणकारी नहीं होता।

न निर्मितः केन न दृष्टपूर्वः न श्रूयते हेममयः कुरंगः।
तथापि तृष्णा रघुनन्दनस्य विनाशकाले विपरीतबुद्धिः।।५।।

आज तक न तो किसी ने सोने का मृग बनाया है और न पहले से बना हुआ देखा और सुना ही है, फिर भी श्रीराम उसे पाने के लिए उत्सुक हो उठे और उसके पीछे भाग खड़े हुए। सच तो यह है कि विनाश-काल आने के समय मनुष्य की बुद्धि उसका साथ नहीं देती। संकट आने पर मनुष्य के सोचने की शक्ति जाती रहती है। वह ऐसे कार्य करने पर मजबूर हो जाता है जिससे कि संकट में फंस जाये। अतः स्पष्ट है कि संकट के समय बुद्धि भी विपरीत दिशा में चलती है।

गुणैरुत्तमतां यान्ति नोच्चैरासनसंस्थिताः।
प्रासादशिखरस्थोऽपि काकः किं गरुडायते।।६।।

आचार्य चाणक्य का मत है कि व्यक्ति अपने गुणों से ही ऊपर उठता है। ऊंचे स्थान पर बैठ जाने से ही ऊंचा नहीं हो जाता। उदाहरण के लिए महल की चोटी पर बैठ जाने से कौआ क्या गरुड़ बन जाएगा?

कहने का अभिप्राय यह है कि व्यक्ति अपने गुणों से ही महान् बनता है और सभी जगह प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। केवल स्थान से व्यक्ति की प्रतिष्ठा नहीं बढ़ती। बल्कि उच्च पद पर किसी गुणहीन व्यक्ति के बैठ जाने से उस पद की गरिमा गिरती ही है।

गुणाः सर्वत्र पूज्यन्ते न महत्योऽपि सम्पदः।
पूर्णेन्दु किं तथा वन्द्यो निष्कलंको यथा कृशः।।७।।

इससे पहले के श्लोक में भी बताया गया है कि व्यक्ति की प्रतिष्ठा उसके गुणों से ही बढ़ती है, न कि स्थान से या विशाल सम्पत्ति से। उदाहरण के लिए पूर्णिमा का पूरा चन्द्रमा हो या द्वितीया का क्षीण, परन्तु निष्कलंक चन्द्र, क्या दोनों स्थितियों में पूज्य नहीं होता?

जिस प्रकार द्वितीया का चन्द्रमा छोटा होने पर भी पूज्य होता है, उसी प्रकार व्यक्ति भी गुण-सम्पन्न होने पर ही पूज्य होता है, सम्मान प्राप्त करता है।

परैरुक्तगुणो यस्तु निर्गुणोऽपि गुणी भवेत्।
इन्द्रोऽपि लघुतां याति स्वयं प्रख्यापितैर्गुणैः।।८।।

आचार्य चाणक्य इस श्लोक में कहते हैं कि जिसके गुणों की प्रशंसा दूसरे लोग करते हैं, वह थोड़े गुणों वाला अथवा गुणों से रहित होने पर भी गुणवान् कहलाता है। इसके विपरीत अपने गुणों की स्वयं प्रशंसा करने वाला इन्द्र भी गुणी नहीं बन पाता, अपितु आत्म-प्रशंसा करने वाला स्वयं छोटा ही बनता है।

अतः स्पष्ट है कि गुणी वही है जिसकी प्रशंसा अन्य लोग करें। अपने मुंह से अपनी प्रशंसा करना अच्छी बात नहीं। अन्य व्यक्तियों द्वारा प्रशंसित गुण ही सच्चे अर्थों में गुण होते हैं।

विवेकिनमनुप्राप्ता गुणा यान्ति मनोज्ञताम्।
सुतरां रत्नमाभाति चामीकरनियोजितम्।।९।।

आचार्य चाणक्य कहते हैं कि गुण भी उसी व्यक्ति को फलीभूत होते हैं जो गुणी अर्थात् विवेकी हो, क्योंकि उसी में गुणों को अपनी सार्थकता नजर आती है। उदाहरण के लिए सोने में जड़ा हुआ रत्न ही शोभा प्राप्त करता है।

जिस प्रकार सोने में मढ़ा हुआ रत्न ही शोभायमान होता है, उसी प्रकार विचारवान् व्यक्ति में विद्यमान गुणों में भी निखार आता है। अतः स्पष्ट है कि गुण भी गुणी को ही शोभा देते हैं।

गुणैः सर्वज्ञतुल्योऽपि सीदत्येको निराश्रयः।
अनर्घ्यमपि माणिक्यं हेमाश्रयमपेक्षते।।१०।।

जिस प्रकार अमूल्य रत्न को भी अपने आश्रय के लिए सोने की आवश्यकता होती है, सोने में मढ़े जाने पर ही रत्न को धारण किया जा सकता है, उसी प्रकार गुणों में परमात्मा की बराबरी करने वाला पुरुष भी किसी उपयुक्त आश्रय के अभाव में यश और प्रसिद्धि प्राप्त नहीं कर पाता।

अतः स्पष्ट है कि उपयुक्त आश्रय से व्यक्ति के गुण लोक और समाज के सामने आते हैं और व्यक्ति समाज में स्थापित होता है।

अतिक्लेशेन ये चार्था धर्मस्यातिक्रमेण तु।
शत्रूणां प्रणिपातेन ते ह्यर्था मा भवन्तु मे।।११।।

धन तो व्यक्ति के पास होना ही चाहिए, परन्तु शरीर को अत्यधिक

क्लेश-पीड़ा देकर प्राप्त होने वाले, धर्म का उल्लंघन करके अर्थात् अन्याय और पाप के आचरण से मिलने वाले तथा शत्रुओं के सामने झुक कर, आत्मसम्मान को नष्ट करके मिलने वाला धन कभी वांछनीय नहीं होता। ऐसे धन को पाने की अपेक्षा उसका न पाना ही अच्छा है। विशुद्ध आचरण से प्राप्त धन ही अच्छा होता है।

किं तया क्रियते लक्ष्म्या या वधूरिव केवला।
या तु वेश्येव सा मान्या पथिकैरपि भुज्यते।।१२।।

इस श्लोक में आचार्य चाणक्य यह परामर्श देते हैं कि उस धन-सम्पत्ति से क्या लाभ जो कुलवधू के समान केवल स्वामी के अपने ही उपभोग में आती है। लक्ष्मी तो वही उत्तम है जो वेश्या के समान न केवल सभी नगरवासियों के उपभोग में आए, बल्कि पथिकों का भी हित करे।

धन की वास्तविक महत्ता उसके स्वयं उपभोग करने में ही नहीं, बल्कि परहित-साधन में ही है। आचार्य का मत है कि धन वही अच्छा है जो अन्य व्यक्तियों की भलाई के काम आए।

धनेषु जीवितव्येषु स्त्रीषु चाहारकर्मसु।
अतृप्तः प्राणिनः सर्वे याता यास्यन्ति यान्ति च।।१३।।

इस संसार में आज तक कोई भी व्यक्ति धन, जीवन, स्त्रियों तथा खाने-पीने के उत्तम पदार्थों से न तो तृप्त हुआ है और न होगा और न हो रहा है। भूतकाल में इन विषयों में सभी प्राणी अतृप्त होकर ही गए हैं और वर्तमान में भी अतृप्त ही दिखाई देते हैं तथा भविष्य में भी यही स्थिति बनी रहेगी।

आज तक इस संसार में किसी ने भी प्राप्त धन से, जीवन से, स्त्रियों के उपभोग से और खानपान की सामग्री से कभी सन्तोष नहीं किया। इस सिलसिले में सभी मनुष्यों की अधिक, और अधिक और इससे भी अधिक पाने की तृष्णा बनी रहती है।

मानव-मात्र की इच्छाएँ कभी पूर्ण नहीं होतीं बल्कि बढ़ती ही जाती हैं और उन्हें प्राप्त करने के लिए वह प्रयत्न करता ही रहता है।

क्षीयन्ते सर्वदानानि यज्ञहोमबलिक्रियाः।
न क्षीयते पात्रदानमभयं सर्वदेहिनाम्।।१४।।

यह सत्य है कि इस संसार में सभी प्रकार के दान, यज्ञ, होम तथा बलिदान कर्मफल-भोग के उपरांत नष्ट हो जाते हैं, परन्तु सत्पात्र को दिया गया दान तथा

जीवों को दिया गया अभयदान कभी नष्ट नहीं होता और न ही क्षीण होता है। उनका फल अक्षय होता है।

तृणं लघु तृणात्तूलं तूलादपि च याचकः।
वायुना किं न नीतोऽसौ मामयं याचमिष्यति।।१५।।

इस श्लोक में आचार्य चाणक्य ने एक बात को बड़े ही अच्छे ढंग से चित्रित किया है कि मांगने वाले से सभी डरते हैं और उससे दूर भागते हैं। कोई भी मांगने वाले को नहीं चाहता।

इस बात को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि इस संसार में सबसे हल्की घास है, घास से भी हल्की रुई है और रुई से भी हल्का याचक है। कवि का प्रश्न है कि यदि याचक घास और रुई से भी हल्का है तो जब वायु उन दोनों को—घास और रुई—को उड़ा ले जाती है तो याचक को क्यों नहीं उड़ा ले जाती? इस पर उसका उत्तर है कि वायु इस भय से उसे नहीं उड़ा ले जाती, क्योंकि वह जानती है कि याचक उससे भी याचना करेगा, इसलिए वह उसे छोड़कर निकल जाती है।

कितना सटीक उदाहरण यहां आचार्य ने दिया है कि मांगने वाले से सभी डरते हैं। कोई नहीं चाहता कि उससे कोई कुछ मांगे।

वरं प्राणपरित्यागो मानभंगेन जीवनात्।
प्राणत्यागे क्षणं दुःखं मानभंगे दिने दिने।।१६।।

इस श्लोक में आचार्य ने मान-मर्यादा की बात कही है। वे कहते हैं कि अपमान कराकर जीने की अपेक्षा मर जाना बेहतर है, क्योंकि मरने का दुःख तो एक क्षण का होता है, परन्तु अपमानित होकर जीने का दुःख तो जीवनपर्यन्त पल-पल सताता रहता है। सम्मानित जीवन ही जीने के योग्य होता है और वही सत्य भी है।

प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः।
तस्मात्तदेव वक्तव्यं वचने का दरिद्रता।।१७।।

मनुष्य को मृदुभाषी होना चाहिए। उसकी वाणी में रस होना चाहिए, क्योंकि मीठा बोलने से सभी प्रसन्न होते हैं। मीठा बोलने में कंजूसी करने से क्या लाभ? मीठा बोलने में कौन-सा धन खर्च होता है जिसके चले जाने का भय हो? बल्कि मीठा बोलने से तो सभी प्रसन्न होते हैं।

अतः स्पष्ट है कि मनुष्य को सभी के साथ मधुरवाणी में बोलना चाहिए।

संसार - विषवृक्षस्य द्वे फले अमृतोपमे।

सुभाषितं च सुस्वादु संगतिः सज्जने जने।।१८।।

आचार्य चाणक्य कहते हैं कि इस संसाररूपी विष-वृक्ष के दो फल हैं, जो अमृत के समान मधुर होने से ग्रहणीय हैं। प्रथम—सुभाषित अर्थात् अच्छी भाषा या बोल, यह बड़ा ही स्वादिष्ट फल है। दूसरा—साधु पुरुषों का संग। इससे भी सभी का कल्याण होता है। मधुर वचन और सज्जनों के संग से मनुष्य को कुछ प्राप्त ही होता है, वह गंवाता कुछ नहीं।

जन्म-जन्मन्यभ्यस्तं दानमध्ययनं तपः।
तेनैवाऽभ्यासयोगेन देही चाभ्यस्यते पुनः।।१९।।

आचार्य चाणक्य का मत है कि यदि जन्म-जन्मान्तर से प्राणी ने दान देने तथा शास्त्रों के अध्ययन और तप करने का जो अभ्यास किया होता है, नया शरीर मिलने पर उसी अभ्यास के कारण ही वह सत्कर्मों की ओर प्रवृत्त होता है। अतः मनुष्य को अपना भावी जन्म सुधारने के लिए इस जन्म में शुभ कर्मों के अनुष्ठान का अभ्यास करना चाहिए।

पुस्तकेषु च या विद्या परहस्तेषु यद्धनम्।
उत्पन्नेषु च कार्येषु न सा विद्या न तद्धनम्।।२०।।

पुस्तकों में लिखी विद्या और दूसरे के हाथों में गया हुआ धन आवश्यकता पड़ने पर कभी काम नहीं आते। विद्या वहीं काम आती है जो मनुष्य ने सीख कर अपनी बना ली हो और पैसा वही काम आता है जो अपने पास हो। इसके विपरीत पुस्तकों में पढ़कर काम चलाने वाला और दूसरों के पास जमा धन पर निर्भर रहने वाला व्यक्ति समय आने अर्थात् आवश्यकता होने पर धोखा ही खाता है, क्योंकि कोई भरोसा नहीं होता कि दूसरे को दिया गया धन कब वापस आये।

सत्रहवां अध्याय

पुस्तकप्रत्ययाधीतं नाधीतं गुरुसन्निधौ।
सभामध्ये न शोभन्ते जारगर्भा इव स्त्रियः।।१।।

आचार्य चाणक्य का मत है कि जिस प्रकार परपुरुष से गर्भ धारण करने वाली व्यभिचारिणी स्त्रियां समाज में शोभा नहीं पातीं, वे मातृत्व के गौरव से सिर ऊंचा नहीं कर पातीं, उसी प्रकार गुरु के चरणों में बैठकर विद्या का अध्ययन न करके इधर-उधर की पुस्तकों से ही पढ़कर ज्ञान प्राप्त करने वाला व्यक्ति विद्वानों की सभा में उपहास का पात्र ही बनता है।

अतः स्पष्ट है कि गुरु से प्राप्त ज्ञान से जो गहराई और निखार प्राप्त होता है, वह अपने-आप पुस्तकें पढ़ने से प्राप्त नहीं होता। इस श्लोक में आचार्य ने गुरु की महिमा पर बल दिया है और कहा है कि गुरु द्वारा दिया गया ज्ञान ही उपयोगी और प्रभावी है।

कृते प्रतिकृतं कुर्याद्हिंसने प्रतिहिंसनम्।
तत्र दोषो न पतति दुष्टे दुष्टं समाचरेत्।।२।।

उपकार करने वाले के साथ उपकार की भावना रखना और हिंसा करने वाले के प्रति हिंसा की भावना रखने में कोई दोष नहीं है, क्योंकि इस विषय में शास्त्र का भी यही निर्देश है कि दुष्ट के साथ दुष्टता का ही व्यवहार करना चाहिए। इस प्रकार "जैसे को तैसा" व्यवहार ही सर्वथा उचित है। संसार का यह सामान्य-सा नियम है कि व्यक्ति भला करने वाले के लिए भला सोचता है और बुरा करने वाले के प्रति बुरा।

यद् दूरं यद् दुराराध्यं यच्च दूरे व्यवस्थितम्।
तत्सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्।।३।।

तप के द्वारा मानव सभी कुछ हासिल कर सकता है। यही बात इस श्लोक में

कही गई है। आचार्य कहते हैं कि जो इतना दूर है कि उसे पा सकना असम्भव प्रतीत होता है तथा जो मनुष्य की सामर्थ्य से बाहर है, वह सब तपस्या से प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि तप की शक्ति असीम है। इसलिए तप सर्वश्रेष्ठ है। तप अर्थात परिश्रम द्वारा असम्भव को भी सम्भव बनाया जा सकता है। तप से न केवल अनेक सिद्धियां मिलती हैं, बल्कि ब्रह्म का साक्षात्कार भी हो जाता है। अतः आचार्य का मत है कि तप ही सर्वश्रेष्ठ है, जिससे अनेक सिद्धियां प्राप्त होती हैं।

लोभश्चेदगुणेन किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः,
सत्यं चेत्तपसा च किं शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम्।
सौजन्यं यदि किं गुणैः सुमहिमा यद्यस्ति किं मण्डनैः,
सद्विद्या यदि किं धनैरपयशो यद्यस्ति किं मृत्युना।।४।।

इस संसार में लोभ सबसे बड़ा अवगुण है, चुगलखोरी सबसे बड़ा पाप है, सत्य सबसे बड़ा तप और मन की पवित्रता सभी तीर्थों के सेवन से उत्तम है। सज्जनता सबसे बड़ा गुण है, यश सर्वोत्तम आभूषण है, उत्तम विद्या सर्वोत्कृष्ट धन है और अपयश मृत्यु के समान सर्वाधिक कष्टदायक है।

मनुष्य के मन में लोभ होने पर अन्यान्य दोषों की क्या आवश्यकता रह जाती है। लोभ पैदा हो जाने पर अन्य दोष तो अपने-आप ही आ जाते हैं। अगर चुगलखोरी की आदत है तो अन्य पापों की क्या आवश्यकता, क्योंकि चुगलखोरी तो स्वयं में सबसे बड़ा पाप है। यदि व्यक्ति के पास सत्य है तो तपस्या की कोई आवश्यकता नहीं। यदि मन शुद्ध है तो तीर्थयात्रा पर जाने की कोई आवश्यकता नहीं। यदि आचार-व्यवहार में सरलता है तो अन्यान्य गुणों से कोई प्रयोजन नहीं। यदि लोक में प्रसिद्धि है, यश-कीर्ति है तो आभूषणों को धारण करने की आवश्यकता नहीं। उत्तम विद्या के होने पर अन्य किसी धन की आवश्यकता ही नहीं। इसके विपरीत यदि मनुष्य का अपयश है तो उसे मृत्यु से क्या लेना-देना, क्योंकि अपमानित व्यक्ति तो जीते-जी ही मरा हुआ होता है। सम्मानित व्यक्ति के लिए अपयश मृत्यु से भी अधिक पीड़ादायक होता है।

पिता रत्नाकरो यस्य लक्ष्मीर्यस्य सहोदरा।
शंखो भिक्षाटनं कुर्यान्नाऽदत्तमुपतिष्ठते।।५।।

शंख समुद्र से उत्पन्न होता है और लक्ष्मी का जन्म भी समुद्र से माना जाता है। साधु लोग गृहस्थियों के घर से भिक्षा मांगते समय शंख बजाकर अपने आने की सूचना देते हैं—इसी संदर्भ में इस श्लोक में कहा गया है कि जिस शंख का

पिता समुद्र है और लक्ष्मी जिसकी सगी बहन है, वह शंख भी द्वार-द्वार पर जाकर भीख मांगता है। इसका कारण कदाचित् यह है कि शंख ने कभी कुछ दान नहीं दिया, इसलिए उसे कुछ भी उत्कृष्ट गुण प्राप्त नहीं हुआ।

अतः स्पष्ट है कि उच्च कुल में उत्पन्न और गुण-सम्पन्न व्यक्ति भी यदि दान नहीं करता तो उसे जीवन में यश नहीं मिलेगा, अतः इस लोक में यश और सुख तथा पारलौकिक कल्याण के लिए दान सर्वोत्तम साधन है। मानव-मात्र को दान करना चाहिए और अपने जीवन को सुखमय तथा सर्वोत्तम बनाना चाहिए।

अशक्तस्तु भवेत्साधुर्ब्रह्मचारी च निर्धनः।
व्याधिष्ठो देवभक्तश्च वृद्धा नारी पतिव्रता।।६।।

इस श्लोक में आचार्य मानव की विवशता का उपहास करते हुए कहते हैं कि शक्तिहीन पुरुष प्रायः ब्रह्मचारी बन जाता है और निर्धन तथा आजीविका कमाने में अयोग्य व्यक्ति साधु-बाबा बन जाता है, किन्हीं असाध्य रोगों से पीड़ित व्यक्ति देवों का भक्त बन जाता है तथा बूढ़ी स्त्री पतिव्रता बन जाती है।

अभिप्राय यह है कि आजकल के ब्रह्मचारी, साधु, देवभक्त और पतिव्रता स्त्रियां केवल विवशता के कारण ही वैसे बने हुए हैं। समर्थ होने पर लोग वैसे नहीं बनते। इन विवशताओं के अभाव में ही वैसा आचरण करने की महत्ता है अर्थात् समर्थ होने पर भी व्यक्ति यदि साधुता को अपनाता है, सम्पन्न होने पर भी ब्रह्मचर्य धारण करता है, रोगमुक्त होने पर भी देवों की उपासना करता है और रूपवती सुन्दरी यदि पतिव्रत धर्म का पालन करती है तो यह उनके इस आचरण की महत्ता और विशिष्टता ही है।

नाऽन्नोदकसमं दानं न तिथिर्द्वादशी समा।
न गायत्र्याः परो मन्त्रो न मातुर्दैवतं परम्।।७।।

आचार्य का मत है कि अन्न और जल का दान अप्रतिम दान है। भूखे को भोजन करा देना और प्यासे को जल दे देने जैसा दूसरा कोई दान नहीं है। द्वादशी जैसी दूसरी कोई उत्तम तिथि नहीं। गायत्री मन्त्र से बढ़कर दूसरा कोई उत्कृष्ट मन्त्र नहीं तथा मां से बढ़कर दूसरा कोई देवता नहीं।

द्वादशी तिथि को किये गये पुण्य कर्म अधिक फलदायक होते हैं। गायत्री सद्यः फलदायक मन्त्र है तथा मां का आशीर्वाद सभी मनोरथों की पूर्ति करने वाला है।

तक्षकस्य विषं दन्ते मक्षिकायास्तु मस्तके।
वृश्चिकस्य विषं पुच्छे सर्वांगे दुर्जने विषम्।।८।।

सर्प के दांत में विष होता है, मक्खी के मस्तिष्क में विष होता है, बिच्छू की पूंछ में विष होता है, परन्तु दुर्जन व्यक्ति का तो सम्पूर्ण शरीर ही विष से भरा होता है। अतः बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिए कि दुर्जन से दूर ही रहे। अभिप्राय यह है कि दुर्जन का संग सर्वथा अवांछनीय है, सदा कष्टदायक होता है।

पत्युराज्ञां विना नारी ह्युपोष्य व्रतचारिणी।
आयुष्यं हरते पत्युः सा नारी नरकं व्रजेत्।।९।।

इस श्लोक में कहा गया है कि पति की आज्ञा के बिना व्रत-उपवास करने वाली स्त्री अपने पति की आयु की हानि करती है और इसके फलस्वरूप वह मृत्यु के बाद नरक में जाती है। अतः स्पष्ट है कि स्त्री के लिए पति ही परमेश्वर है, उसकी अवज्ञा करके धर्म-व्रत आदि करना निरर्थक है। पति की आज्ञा का पालन करना ही पतिव्रता नारी का कर्तव्य है।

पादशेषं पीतशेषं सन्ध्याशेषं तथैव च।
श्वानमूत्रसमं तोयं पीत्वा चान्द्रायणं चरेत्।।१०।।

पैरों के धोने से बचा, पीने से बचा हुआ अर्थात् जूठा जल और संध्या करने से बचा हुआ जल कुत्ते के मूत्र के समान अग्राह्य है। यदि कोई व्यक्ति इस प्रकार के जल का सेवन कर लेता है तो उसे अपनी शुद्धि के लिए चान्द्रायण-व्रत करना चाहिए। अशुद्ध जल रोगों का कारण होता है।

न दानैः शुद्धचते नारी नोपवासशतैरपि।
न तीर्थसेवया तद्वद् भर्तुः पादोदकैर्यथा।।११।।

स्त्री की शुद्धता कैसे होती है, इस श्लोक में वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं कि स्त्री न तो दान से, न ही उपवास से तथा न ही नाना तीर्थों के सेवन से शुद्ध होती है, बल्कि वह तो केवल पति के चरणों को श्रद्धापूर्वक छू लेने से ही शुद्ध हो जाती है। अतः स्पष्ट है कि स्त्री के लिए पति-सेवा से बढ़कर दूसरा कोई तीर्थ नहीं है और न ही कोई उपवास अथवा धर्मानुष्ठान है।

दानेन पाणिर्न तु कंकणेन, स्नानेनशुद्धिर्न तु चन्दनेन।
मानेन तृप्तिर्न तु भोजनेन, ज्ञानेन मुक्तिर्न तु मण्डनेन।।१२।।

आचार्य का मत है कि कंगन अर्थात् आभूषण धारण करने से हाथ की शोभा नहीं बढ़ती, बल्कि दान करने से हाथ की शोभा बढ़ती है। शरीर की शुद्धि स्नान करने से होती है, खाली चन्दन का लेप करने से नहीं होती। मनुष्य को सच्चा सुख सम्मान-प्राप्ति से मिलता है, भोजन से नहीं। इसी प्रकार मुक्ति भी ज्ञान से मिलती है, तिलक-छापे लगाने से नहीं। ये तो सब बाह्य आडम्बर हैं। अतः

मानव को चाहिए कि वह इन आडम्बरों से बचे।

नापितस्य गृहे क्षौरं पाषाणे गन्धलेपनम्।
आत्मरूपं जले पश्यन् शक्रस्यापि श्रियं हरेत्।।१३।।

आचार्य ने इस श्लोक में व्यक्ति को यह समझाने की बात कही है कि नाई के घर जाकर हजामत नहीं बनवानी चाहिए, पत्थर की देव-प्रतिमाओं पर चन्दन आदि का लेप नहीं लगाना चाहिए तथा जल में अपनी परछाईं नहीं देखनी चाहिए, क्योंकि इससे मनुष्य का गौरव अथवा सम्मान नष्ट होता है।

आचार्य जी कहते हैं कि नाई के घर (दुकान के अलावा) जाकर हजामत कराने वाला, पाषाण की देवमूर्त्तियों पर चन्दन आदि लगाने वाला तथा जल में अपना प्रतिबिम्ब देखने वाला व्यक्ति इन्द्र के समान सम्पन्न एवं प्रतिष्ठित होने पर भी शोभाविहीन होता है। अतः व्यक्ति को इन चीजों से बचना चाहिए।

सद्यः प्रज्ञाहरा तुण्डी सद्यः प्रज्ञाकरी वचा।
सद्यः शक्तिहरा नारी सद्यः शक्तिकरं पयः।।१४।।

आचार्य कहते हैं कि तुण्डी (कुन्दरु) के सेवन से बुद्धि तत्काल नष्ट होती है और इसके विपरीत वच के सेवन से बुद्धि का शीघ्र विकास हो जाता है। स्त्री के साथ सम्भोग करने से शक्ति तत्काल नष्ट होती है और दूध के प्रयोग से खोई हुई ताकत तत्काल वापस लौट आती है। इस प्रकार तुण्डी बुद्धिनाशक है और वच बुद्धिवर्धक, स्त्री बलनाशक है और दूध बलवर्धक। अतः स्पष्ट है कि तुण्डी और स्त्री से हुई हानि की भरपाई के लिए वच और दूध का सेवन करना चाहिए।

परोपकरणं येषां जागर्ति हृदये सताम्।
नश्यन्ति विषदस्तेषां सम्पदः स्युः पदे पदे।।१५।।

इस श्लोक में आचार्य ने बहुत ही सटीक बात कही है कि जिन सज्जनों के हृदय में सदा परोपकार की भावना जागृत रहती है, उनके सभी संकट नष्ट हो जाते हैं और उन्हें पग-पग पर नाना प्रकार की सम्पत्तियां सुलभ होती हैं।

परोपकार की महिमा और शक्ति विलक्षण है। परोपकार से व्यक्ति के सभी दुःख नष्ट हो जाते हैं और उसे नाना प्रकार के वैभव प्राप्त होते हैं। इसलिए परोपकार की भावना मानव के हृदय में सदा रहनी चाहिए।

यदि रामा यदि च रमा यदि तनयो विनयगुणोपेतः।
यदि तनये तनयोत्पत्तिः सुरवरनगरे किमाधिक्यम्।।१६।।

भगवान् की कृपा से यदि मनुष्य को सुन्दर स्त्री और आवश्यकताओं की पूर्ति

के लिए पर्याप्त धन मिल जाए और चरित्रवान् तथा गुणी पुत्र प्राप्त हो जाए तथा पुत्र का भी पुत्र अर्थात् पोता भी हो जाए तो उसके लिए स्वर्ग इसी धरती पर विद्यमान है, क्योंकि स्वर्ग में इससे अधिक और क्या मिल सकता है?

आहार-निद्रा-भय-मैथुनञ्च, सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।।१७।।

आहार—खाना-पीना, निद्रा, भय-आपत्ति अथवा आततायी से डर, मैथुन—स्त्री-सम्भोग और सन्तान उत्पन्न करना आदि सभी कुछ क्रियाएं पशुओं और मनुष्यों में समान रूप से विद्यमान रहती हैं। इस दृष्टि से देखा जाये तो पशु और मानव में कोई अन्तर नहीं रह जाता, परन्तु मनुष्यों को पशुओं से अलग करने वाला गुण है—धर्म, अर्थात् नैतिकता। अतः जो व्यक्ति अपने नैतिक गुणों का विकास नहीं करते वे पशु के समान ही होते हैं।

दानार्थिनो मधुकराः यदि कर्णतालैर्-
दूरीकृताः करिवरेण मदान्धबुद्धया।
तस्यैव गण्डयुगमण्डनहानिरेषा,
भृङ्गाः पुनर्विकचपद्मवने वसन्ति।।१८।।

आचार्य महोदय का मत है कि यदि मद से अन्धा गजराज अपनी मन्दबुद्धि के कारण अपने गण्डस्थल के मद को पीने के इच्छुक भौरों को कानों की चोट से दूर भगा देता है तो इसमें भौरों को कोई हानि नहीं होती। वे तो वहां से हटकर खिले हुए कमलों का सहारा ले लेते हैं और उन्हें वहां रस भी सुलभ हो जाता है, परन्तु भौरों के न आने से हाथी के गण्डस्थल की शोभा एकदम नष्ट हो जाती है।

इस श्लोक का अभिप्राय यह है कि याचक को भगा देने से याचक की हानि नहीं होती, क्योंकि उसे तो कोई न कोई देने वाला मिल ही जाता है। वास्तव में इन्कार करने से दाता की ही हानि होती है, क्योंकि तिरस्कृत याचक फिर उस ओर नहीं आता। अतः धनी लोगों को चाहिए कि याचकों को निराश न लौटाएं। उन्हें सन्तुष्ट ही करना चाहिए, ताकि वे उनके सम्मान की गाथा अन्य स्थान पर भी गायें।

राजा वेश्या यमश्चाग्निस्तस्करो बाल याचकः।
परदुःखं न जानन्ति अष्टमो ग्रामकण्टकः।।१९।।

आचार्य चाणक्य का मत है कि ये आठ—राजा, वेश्या, यम, अग्नि, तस्कर, बालक, याचक और ग्रामकण्टक (ग्रामीणों को सताने वाले) बड़े ही निर्मम होते हैं, ये दूसरों के दुःख को समझते ही नहीं।

अधः पश्यसि किं वृद्धे ! पतितं तव किं भुवि।
रे रे मूर्ख ! न जानासि गतं तारुण्यमौक्तिकम्।।२०।।

आचार्य चाणक्य मानव मात्र को समझाते हुए कहते हैं कि वृद्धावस्था सभी को आती है, परन्तु कभी-कभी युवा व्यक्ति वृद्ध लोगों का मजाक उड़ाते हैं। वे कहते हैं कि किसी वृद्धा की झुकी हुई कमर के कारण उसके लटके हुए मुंह पर व्यंग्य करते हुए किसी पुरुष ने पूछा कि बुढ़िया, तुम नीचे क्यों देख रही हो? क्या तुम्हारा कुछ गिर गया है जो उसे ढूंढने के लिए नीचे देखे जा रही हो?

बुढ़िया समझदार थी। उसने उस पुरुष को फटकारते हुए कहा– अरे मूर्ख ! तुम्हें शायद मालूम नहीं कि मेरा यौवनरूपी मूल्यवान् मोती गिर गया है, जिसे मैं ढूंढती फिरती हूं। अतः समझदार व्यक्ति को चाहिए कि किसी भी वृद्ध का उपहास न करे, क्योंकि यही स्थति एक दिन उसकी भी हो सकती है।

व्यालाश्रयापि विफलापि सकण्टकापि,
वक्रापि पंकिलभवापि दुरासदापि।
गन्धेन बन्धुरसि केतकि सर्वजन्तो-
रेको गुणः खलु निहन्ति समस्त दोषान्।।२१।।

आचार्य कहते हैं कि कभी-कभी किसी व्यक्ति का कोई एक ही गुण उसके अन्य सभी दोषों को ढक लेता है–इसका उदाहरण है केतकी का फूल। उसे सम्बोधित करते हुए आचार्य कहते हैं कि–हे केतकी ! तुझमें सांप लिपटे रहते हैं और फल भी नहीं लगते, तुझमें कांटे भी बहुत हैं और सुगन्ध भी नहीं है। इसके अतिरिक्त तेरा जन्म कीचड़ में होता है और आसानी से तू प्राप्त भी नहीं होती। इस प्रकार तुझमें इतने अवगुण है, परन्तु तुम्हारे पास सभी प्राणियों को मोहित करने वाली गन्ध के रूप में एक ऐसा गुण है जो तुम्हारे इन सभी दोषों को ढक लेता है और लोग तुम्हें पाने के लिए उत्सुक रहते हैं।

अतः इस श्लोक से यह सिद्ध होता है कि कभी-कभी व्यक्ति का एक ही प्रखर गुण उसके अनेक दोषों को ढक लेता है।

यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकता।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्।।२२।।

आचार्य चाणक्य ने इस श्लोक में बहुत ही सटीक बात कही है। वे कहते हैं कि जवानी, धन-सम्पत्ति की अधिकता, अधिकार और विवेकहीनता–इन चारों में से प्रत्येक बात अकेली ही मनुष्य को नष्ट करने के लिए पर्याप्त है। परन्तु यदि

कहीं ये चारों इकट्ठे हों अर्थात् मनुष्य युवा भी हो, उसके पास पैसा भी हो और वह अपनी इच्छानुसार काम करने वाला भी हो अर्थात् उसके काम में उसे टोकने वाला भी कोई न हो और फिर दुर्भाग्यवश उसमें विचार-बुद्धि भी न हो तो मनुष्य के विनाश होने में एक पल भी नहीं लगता।

कहने का तात्पर्य यह है कि यौवन, धन-सम्पत्ति, उच्छृंखल स्वामित्व और विवेकहीनता मानव को अनर्थ की ओर प्रेरित करते हैं। इन्हें पाकर मनुष्य को विनम्र और सावधान रहना चाहिए। यदि मनुष्य विवेक का पल्ला छोड़ देता है तो उसका विनाश होने में एक पल भी नहीं लगता।

अंतः सम्पन्न होने पर मनुष्य को विवेकशील भी बने रहना चाहिए, ताकि किसी प्रकार के विनाश का सामना न करना पड़े। □□□

विश्वप्रसिद्ध विचारक स्वेट मार्डेन की अनमोल पुस्तकें



निराशा में आशा, उदासी में प्रसन्नता, असफलता में निश्चित सफलता का दूसरा नाम है स्वेट मार्डेन का साहित्य। आप भी जीवन में परम ऊर्जा का संचार करने वाले इस साहित्य को पढ़ें और अनन्त-असीम आकाश को अपनी मुट्ठी में समेट लें।

मनोज पॉकेट बुक्स

761, मेन रोड बुराड़ी, दिल्ली-110084 दूरभाष: 27615430, 27616745

सम्पूर्ण चाणक्य नीति

आचार्य चाणक्य भारतवर्ष की एक ऐसी महान विभूति थे जिन्होंने सम्पूर्ण देश को एक सूत्र में पिरोकर भारत को एकरूपता दी। यह राज्य इतना शक्तिशाली था कि सिकन्दर जैसे महापराक्रमी को भी अपनी रक्षा के लिए उनके समक्ष झुकना पड़ा था। कूटनीति का प्रकांड पंडित होने के कारण उन्हें कौटिल्य के नाम से भी जाना जाता है। किंतु इतने महान व्यक्तित्व के स्वामी होने पर भी उनका जीवन अत्यंत सरल और सादा था। वह एक सामान्य कुटिया में रहते थे परंतु उनका चिन्तन, मनन, अध्ययन और विवेचन बड़े-बड़े राजप्रासादों के उच्च शिखरों से भी ऊंचा और महान था। राज्यों-राष्ट्रों की सफलता के लिए इस महान कूटनीतिज्ञ ने जिन नियमों का निर्धारण किया है, वे आज के सन्दर्भ में भी उतने ही खरे उतरते हैं, जितने उस काल में थे। ऐसा कौन-सा विषय है जिसका आचार्य चाणक्य ने सटीक विवेचन न किया हो। कूटनीति से लेकर प्रतिदिन के लोकाचार भी उनकी पैनी दृष्टि से अछूते नहीं रहे। 'चाणक्य नीति' आचार्य चाणक्य द्वारा रचित एक ऐसा अभूतपूर्व ग्रन्थ है जिसमें लोक व्यवहार, सिद्धान्त, नीति एवं राजनीति की ऐसी अनेक शिक्षाएं लघु सूत्रों के रूप में दी हुई हैं जिन्हें जानकर पाश्चात्य विद्वान भी हैरत से दांतों तले उंगली दबाते हैं। आप भी इस पुस्तक को पढ़ें और जीवन में आत्मसात कर सफलता प्राप्त करें।

मनोज
पॉकेट
बुक्स